हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ७४ वाँ ग्रन्थ

वातायन



[उच्च श्रेणीकी सुन्दर, भावपूर्ण और

मौलिक कहानियाँ]

लेखक—

श्रीयुक्त बाबू जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

द्वि० आषाढ़, १९८८ वि०

जुलाई, १९३१ ई०

प्रथम बार] [मूल्य १॥)

सजिल्दका २)

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाँव—बम्बई



मुद्रक—
मं० ना० कुळकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
३१८ ए, ठाकुरद्वार, बम्बई

वक्तव्य

ये कहानियाँ कालानुक्रमसे इस संग्रहमें दी गई हैं। सब इस या उस पत्रिकामें निकल चुकी हैं। श्री नाथूरामजी प्रेमी इस संग्रहके लिए दो अप्रकाशित रचनाएँ चाहते थे। अन्तिम दो ऐसी ही कहानियाँ हैं। इनमेंसे 'अपने-अपने भाग्य' के लिए एक साहित्यिक सज्जनका आभार मान लेना ज़रूरी है। खेद है कि उन्होंने अपना नाम जाननेका अवसर नहीं दिया। उन अज्ञात-नाम सदाशयने मुझसे बिना पूछे उस कहानीके अन्तिम भागको बदल लिया। कुछ तो प्रकाशित हो जानेपर मैं लाचार हो गया, कुछ वह परिवर्तन मुझे रुचा भी, इसलिए मैंने उसे, कलमसे फिर जहाँ-तहाँ छू देनेके बाद, अपना लिया। आशा है, उक्त सदाशय विश्वास करेंगे कि उनकी अयाचित और अनधिकृत कृपाके लिए मैं अब उतना रुष्ट नहीं हूँ जितना अनुगृहीत हूँ।

प्रेमीजीका मुझपर विशेष अनुग्रह है। उनके प्रति जो मैं भाव रखता हूँ उनको शब्दोंमें निकालकर नहीं फेंक दूँगा।

ये और तीन चार और—अभी इतनी कहानियाँ लिखी हैं। इसलिए कहानी-विज्ञान और कहानी-कलापर कुछ लिखनेमें मुझे तनिक देर है।

स्पेशलजेल, गुजरात
३ मार्च, ३१।

—जैनेन्द्रकुमार



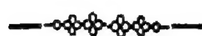
समर्पण

जो मेरी माता रहीं और पिता भी रहीं;
जिन्हें कष्ट ही देता रहा और
जिनसे स्नेह ही पाता रहा,
अपनी उन माँके
चरणोंमें



सूची

वातायन



फोटोग्राफी



१

बहुतेरा पढ़ने-लिखनेके बाद और माँके बहुत कहने-सुननेपर भी जब रामेश्वरको कमानेकी चिन्ता न हुई, तो माँ हार मानकर रह गई। रामेश्वरकी बाल-सुलभ प्रकृति चाहती थी, कि रुपयेका अभाव तो न रहे; पर कमाना भी न पड़े। दिनका बहुत-सा समय वह ऐसी ही कोई जुगत सोचनेमें बिता देता था। खर्चेके लिए रुपये मिलनेमें कुछ हीला-हवाला होते ही, वह अपनेको बड़ा कोसता था, बड़ा धिक्कारता था, मन-ही-मन प्रतिज्ञा करता था, कि कलसे ही किसी काममें लग जाऊँगा; और माँसे अनुनय-विनय करनेपर या लड़-झगड़कर, जब रुपया मिल जाता था, तब भी वह प्रतिज्ञाको भूलता नहीं था; पर जब अगला सवेरा होता, तो फिर वह कोई सहल-सी जुगत ढूँढ़नेकी फ़िक्रमें लग जाता।

माँने भी होनहारको सिर नवाकर स्वीकार कर लिया । इस २३ वर्षके पढ़े-लिखे निर्जीव काठके उल्लूको, दुलारके साथ अच्छा-अच्छा खिला-पिलाकर पालते-पोसते रहना माँने अपना कर्तव्य समझा ।

रामेश्वर बड़े भले स्वभावका युवक था । उसके चलनमें ज़रा भी खोट न थी; पर था वह आनन्दी और निश्चिन्त स्वभावका । उसने प्रशंसनीय सफलताके साथ बी० ए० पास किया था; पर वह यह नहीं जानता था, कि इस दो शब्दकी पूँछसे कहाँ और किस तरह फ़ायदा उठाया जा सकता है । इस पूँछके लगनेके बाद, एक विशिष्ट गौरवसे सिर उठाकर, राह-चलते नेटिव लोगोंपर हिकारतकी निगाह डालते हुए चलनेका अधिकार मिल जाता है—यह भी वह मूर्ख न समझता था ।

इस फ़ोटोग्राफ़ीकी सूझके बाद अब वह बिल्कुल ऐरे-गैरे लोगोंमें अपना कैमेरा बाँहपर लटकाये और हाथमें स्टेण्डको छड़ीके मानिन्द घुमाता हुआ कहीं भी देखा जा सकता है । उसकी अपनी खींची हुई अच्छी-बुरी तस्वीरोंके संग्रहमें आप एक जाटको दिल्लीके चाँदनी चौकके फुट-पाथपर बोतल ओठसे लगाये सोडा-वाटर गटकते पा सकते हैं, होलीके उत्सवकी खुशीमें रंग-बिरंगे उछलते-कूदते आठ-आठ दस-दस ग्रामीणोंकी नाचती हुई उन्मत्त टोलियोंको पा सकते है । सारांश यह कि उसके चित्र अधिकतर साधारण कोटिके लोगोंमेसे लिये गये हैं । वह उनसे जितना अपनापा अनुभव कर सकता है, उतना बड़े आदमियोंसे नहीं ।

यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि वह कोई धनिकका पुत्र नहीं है । उसे अपने खर्चके लिए ४०) मासिक मिलते हैं; लड़-झगड़-कर १०) मासिकतक और मिल जाते हैं,—ज्यादा नहीं । रामेश्वर यह

जानता है, और वह जहाँ तक होता है ४०) से अधिक न लेनेका ही प्रयत्न करता है। कभी अधिक खर्च होता है, तो वह अपने ऊपर जब्र करके, इधर उधरके खर्चोंसे काट-छाँटकर पूरा कर लेता है।

२

जब यह अलीगढ़ गया, तो साथमें छह प्लेट ले गया था। पहुँचनेके दिन ही उसने छहों खींच डाले। चार सँभालकर बेगमें रख लिये, दो स्लाइडमें ही रहने दिये।

लड़के, जिन्हें प्रकृतिने परमात्माकी तरह निर्दोष बनाकर भी, उनमें ताक-झाँक और तोड़-फोड़की उत्सुकता भरकर शैतान बनाया था, और जिन्हें रामेश्वरने स्लाइडको हाथ न लगानेकी सख्त ताकीद कर दी थी, हठात् छेड़-छाड़ किये बिना रह न सके। भीतर क्या जादू है, यह जाननेके लालचसे उन्होंने स्लाइड खोल डाली, प्लेटका काँच निकाल लिया और पटककर तोड़ दिया।

जब रामेश्वर अलीगढ़ स्टेशनपर दिल्ली आनेवाली एक्सप्रेसके एक ड्योढ़े दर्जेमें घुसा, तो एक भरी, एक ख़ाली, दो स्लाइड उसके पास थीं।

गाड़ी चलते ही सामनेकी बेंचपर एक रूठते हुए बालककी ओर उसका ध्यान गया। उस बालकको केलेकी आशा दिलाई गई थी; पर केलेवाला खिड़कीके पास आया ही था, कि गाड़ी चल दी। इसीपर बच्चा मचल रहा था।

"क्यों मचल रहे हो बेटा, अगले स्टेशनपर केले मँगा दूँगी"—उसकी माँ उसे मनानेके लिए कह रही थी।

बच्चा बहुत ही सुन्दर था । लाली छाये हुए उसके गोरे-गोरे गाल और माथेके दोनों ओर खेलते हुए उसके टेढ़े-मेढ़े बाल नये फ़ोटोग्राफ़रको अलौकिक जान पड़े । उसने ऐसा सुंदर बालक कभी न देखा था ।

और हाँ, माँ ! माँ बिल्कुल बालकके अनुरूप थीं । वही स्वच्छ खिला हुआ रूप, और वही मधुर आकृति; पर मातामें सलज्ज संकोच था, और बालकमें लज्जासे अछूता चांचल्य ।

बालक मचला हुआ था, किसी तरह नहीं मानता था ।

रामेश्वरने केमेरा खोला । कहा—आओ श्याम, तुम्हें एक तमाशा दिखाएँ ।

केमेरेको देखते ही बालक श्याम केलेवालेको और केलेपर अपने रूठनेको भूल गया । तुरंत रामेश्वरकी गोदमें आ बैठा ।

रामेश्वरने पूछा—तस्वीर खिंचवाओगे ?

श्यामने ताली बजाकर कहा—किचवाएँगे ।

माँ बालककी प्रसन्नतासे खिल उठीं और अनायास बोल पड़ीं—हाँ खींच दो ।

रामेश्वरने बालकको माँके पास बेंचपर बिठाकर अपने केमेरेको ठीक जमाना शुरू किया ।

बालक बड़े उल्लासमें, एक अद्भुत चीज़ पा जानेकी आशामें केमेरेके लेंसकी तरफ़ एकटक देख रहा था । माँ भी यह ध्यानसे देख रहीं थीं, कि फ़ोटोग्राफ़ी कैसे होती है ।

रामेश्वरने केमेरा ठीक कर लिया । फिर न-जाने उसे क्या सूझा कि सकुचाते हुए वह माँसे बोला—इसमें आपकी भी तस्वीर आ जाती है, कुछ हर्ज तो नहीं ?

माँने कुछ उत्तर न दिया, उन्होंने बेगमेंसे चश्मा निकालकर पहना और अपने कपड़ोंकी सलवट ठीककर बच्चेके पास आ बैठीं।

रामेश्वरके पास ख़ाली स्लाइड थी। उसने फ़ोकस लगाया, श्यामको लेंस दिखाकर कह रखा—इसमेंसे चिड़िया निकलेगी। फिर नियमित रूपसे एक-दो-तीन किया और कह दिया—फ़ोटो खिंच गई।

तमाशा था, ख़तम हुआ। रामेश्वर जब केमेरेको बन्द करके रख देनेकी तैयारीमें था, तो उससे कहा गया—लाइए, तस्वीर दीजिए।

वह बड़ी उलझनमें पड़ा। तस्वीर खींची ही कहाँ थी? वह तो झूठ-मूठका तमाशा था। स्लाइड तो ख़ाली थी और तस्वीर खिंचती भी, तो दी कैसे जा सकती थी? उसे तैयार करनेमें अभी तो कमसे-कम दो दिन और लगते; पर उसने फिर सुना—जितने दाम हों ले लीजिए, तस्वीर दे दीजिए।

उसकी घबड़ाहट बढ़ती जा रही थी। क्या वह कह दे—तस्वीर नहीं खींची गई, वह तो सिर्फ़ धोखा था और तमाशा था? नहीं, वह यह नहीं कह सकता। माँने कितनी उमंगके साथ अपने बालककी और अपनी तस्वीर खिंचवाई है! क्या वह सच-सच कहकर उनके मनको अब मार देगा? नहीं, सच बात कहना ठीक नहीं।

"देखिए, यह ठीक नहीं है, तस्वीर दे दीजिए।"

रामेश्वरने कहा—तस्वीर अभी कैसे दी जा सकती है? उसे अभी धोना होगा, छापना होगा—तब कहीं वह तैयार होगी।

माँने कहा—धोनी होगी? ख़ैर, हम लाहौरमें धुलवा लेंगे।

रामेश्वर बोला—जी नहीं, उसे जरासा प्रकाश लगेगा कि वह ख़राब हो जायगी?

अगर सचमुचकी तस्वीर होती, तो रामेश्वर स्लाइड-समेत उसे बिना दाम भेंट करके कितना प्रसन्न होता ! पर अब तो वह मरा जा रहा था। कैसी बुरी विडम्बनामें फँस गया था वह !

उसे सुनना पड़ा—यह ठीक नहीं है। जो हो, आप तस्वीर दे दीजिए। हमें यह नहीं माल्म था।

रामेश्वर क्या कहे ! बोला—क्या आप यह समझती थीं, तस्वीर अभी तैयार हो जायगी, और आपको मिल जायगी ?

जवाब मिला—हमें यह नहीं माल्म था कि तस्वीर आपके ही पास रहेगी।

रामेश्वरने कहा—तो, इसमें हर्ज ही क्या है ?

महिला अकेली नहीं थीं। उनके साथ एक महिला और थीं। एक पुरबिया बुड्ढा नौकर था, और कई बाल-बच्चे थे। उन्होंने क्षण-भर अपनी साथिनकी ओर देखा; देखकर कहा—नहीं, नहीं, आप दे दीजिए।

रामेश्वर अभीतक कभीका दे देता, पर दे तो तब, जब हो। उसने कहा—देनेके माने उसे खराब कर देना है। इससे तो अच्छा, उसे तोड़ ही दिया जाय। आप मेरा परिश्रम क्यों व्यर्थ करवाती हैं ?

उन्होंने फिर साथिनकी ओर ऐसे देखा, जैसे वह स्वयं रामेश्वरको छुटकारा दे देना चाहती है। पर शायद साथिनकी ओरसे उन्हें संकेत मिला—लाहौर जाकर यह बात छिपी न रहेगी, फिर कैसा होगा ? उन्होंने कहा—तो तोड़ डालिए।

रामेश्वरने सोचा—अगर, कहीं दूसरी महिला भी फ़ोटोमें आ गई होतीं, तो शायद कठिनता न होती। उसने अपील करते हुए कहा—

जी, देखिए म दिल्ली रहता हूँ, आप लाहौर जा रही हैं। मेरा आपका परिचय भी नहीं है। इस दिनको छोड़कर शायद फिर कभी मिलना भी न होगा। मै व्यवसायी फ़ोटोग्राफर भी नहीं हूँ। आपको मैं वचन देता हूँ, मेरे पास तस्वीर रहनेमें, आपका कुछ भी अहित न होगा।

माँने फिर अपनी साथिनकी ओर देखा; पर उनकी तो तस्वीर खिंची न थी। माँने कहा—आप अख़बारमें भेज देंगे, अपने यहाँ लगा लेंगे।

रामेश्वरने तुरंत कहा—मैं वचन देता हूँ, न मैं लगाऊँगा, न कहीं भेजूँगा; पर आप मेरा परिश्रम व्यर्थ न कीजिए।

माँको विश्वास हो चुका था, कि यह बात लाहौरमें बालकके पिता तक अवश्य पहुँचेगी। वह बेचारी क्या करतीं? बोलीं—नहीं आप तोड़ ही दीजिए।

वह इतना अविश्वासी समझा जा रहा है, इसपर रामेश्वर भीतरसे बड़ा घुट रहा था। इच्छा हुई कि सच-सच बात कह दूँ; पर ध्यान हुआ—उसे सच कौन मानेगा? मैं कहूँगा, तस्वीर नहीं खिंची, सिर्फ बालकको बहलानेको तमाशा किया गया था, तो कोई यकीन न करेगा। वह समझेंगी—मै तस्वीर रखना चाहता हूँ, इससे झूठ बोलता हूँ और बहाने बनाता हूँ। रामेश्वरको इस लाचारीपर बहुत दुःख हुआ; परन्तु उसने कहा—अगर आप कहेंगी, तो मै तस्वीरको तोड़ ही दूँगा; पर मैं फिर आपसे कहता हूँ, मैं दिल्ली चला जाऊँगा। फिर आपके दर्शन कभी मुझे नहीं होंगे। अगर आपकी तस्वीर मेरे पास रही भी, और मैंने टाँग भी ली, तो इसमें आपका क्या हर्ज है? देखिए, बालक श्यामका चित्र मेरे पास रहने दीजिए। आपके चित्रके बारेमें मैंने आपसे

पहले ही पूछ लिया था। आपका यह श्याम मुझे फिर कब मिलेगा ? इसके दर्शनको आप मुझसे क्यों छीनती हैं ?

वह बोली—हाँ, श्यामका चित्र आप दूसरा ले लीजिए।

किन्तु दुर्भाग्य, रामेश्वरके पास खाली प्लेट तो कोई नहीं है। होता तो यह बखेड़ा ही क्यों उठता ? कहा—खेद कि मेरे पास खाली प्लेट ही कोई नहीं है।

जब उसने अपना पीछा छूटते न देखा, तो हार मानकर कहा—अच्छा लीजिए।—और भरी स्लाइडको खोल डाला।

उससे कहा गया—देखिए, आप बदल न लीजिएगा।

"इतना अविश्वास न करें।"—यह कहकर उसने स्लाइडका प्लेट निकालकर चलती हुई रेलके नीचे छोड़ दिया।

जिनकी फ़ोटो न खिंची थी, उनको शायद संदेह बना ही रहा। रामेश्वरसे कहा गया—जरा वह दिखलाइए तो, देखें आपने फेंका भी या नहीं।

रामेश्वर मर-सा गया। उसने उठकर श्यामके सिरपर हाथ रखते हुए कहा—बालकके सिरपर हाथ रखकर कहता हूँ, मैं इतना असत्य-वादी नहीं हूँ। यह कहकर स्लाइड उसने 'माँ' को दे दिया।

स्लाइडको खोलकर, उसके एक-एक हिस्सेको उँगलीसे दबा-दबाकर, और हरेक कोना टटोलकर, साथिन महाशयाके यह प्रमाण दे देने पर कि अब सचमुच स्लाइडमें कोई चीज नहीं है, रामेश्वरके प्रति उनको थोड़ा-थोड़ा विश्वास होने लगा।

रामेश्वरने अब श्यामसे खूब दोस्ती पैदा कर ली, और दिल्ली पहुँचते-न-पहुँचते वह श्यामका पक्का मामा बन गया।

उन्हें आरामसे लाहौरकी गाड़ीमें बिठाकर, उनके पैसोंको अस्वीकार करके, श्यामकी अम्माँसे क्षमा माँगकर, और सोते श्यामका अन्तिम चुम्बन लेकर, दिल्ली-स्टेशनपर जब रामेश्वर उनसे सदाके लिए विदा ले लेनेको था, कि उससे कहा गया—आपने बड़ा कष्ट उठाया। इतनी कृपा और करें कि सवेरे तार दे दें।

हाथसे एक रुपया रामेश्वरकी ओर बढ़ाते हुए माँने लाहौरका अपना पता लिखवा दिया।

पता लिखते ही रामेश्वर भाग गया। 'यह लेते जाइए' की आवाज़ उसके पीछे दौड़ी; पर वह नहीं लौटा। स्टेशनके बाहर आते ही, जब माँके नौकरने उसे पकड़कर रुपया हाथमें थमाना चाहा, तब उसने एक झिड़कीके साथ कहा—जाओ! रेलपर वह अकेली है। कह देना, तार सवेरे ही दे दिया जायगा।

३

तार-घर खुलते ही लाहौर तार दे देनेके बाद रामेश्वरने सोचा—उसके जीवनका एक पन्ना जीवन-क्रमसे अनायास ही अलग होकर, जो एक प्रकारकी रसमय घटनासे रँग गया है, उसे हठात् यहीं अन्त करके मुझे अब अगला पन्ना आरम्भ कर देना होगा। उसे इसपर दुःख हुआ। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें कुछ घटनाएँ ऐसी घट जाती हैं, जिनको वह समाप्त कर देना नहीं चाहता, उनका सिलसिला बराबर जारी रखना चाहता है। श्यामको सदाके लिए भुला देना होगा—भाग्यका यह विधान उसे बहुत ही कठोर मालूम हुआ। उसकी इच्छा थी कि उसके जीवन-ग्रन्थके अन्तिम पन्नेतक 'श्याम' और 'श्यामकी अम्माँ'का सम्बन्ध चलता रहे—टूटे नहीं; परन्तु अब उनके बीचमें

२५० से ज्यादा मीलका व्यवधान है, और उनके जीवनकी दिशाएँ भिन्न होनेके कारण, उस व्यवधानको क्षण-क्षण बढ़ा रही हैं।

उसके सामने, मानों जीवनकी और संसारकी शून्यता एक बड़ी-सी निराशाके रूपमें प्रत्यक्ष हो गई। कल जो दो व्यक्ति आपसमें इस तरह उलझे हुए थे, आज उन्हींके बीच असम्भाव्यताका ऐसा व्यवधान फैला हुआ है, कि पुर नहीं सकता। और कल उन्हें एक-दूसरेको भुलाकर अपना समय बितानेकी और कुछ तरकीब निकाल लेनी होगी। श्याम-को अपने 'मामा' को भुलाकर उसके अभावमें ही अपने तईं जीवित और प्रसन्न रखना होगा। इसी तरह श्यामको भूलकर रामेश्वरको भी नित्य नियमित जीवन-कार्यमें लग जाना होगा।

कम्पनी-बागमें सिर झुकाये हुए, लम्बे-लम्बे डगोंसे ५-६ मिनट सोचते-सोचते इधर-उधर घूमनेके बाद, रामेश्वरने घर आकर माँसे कहा—अम्मा, जो कहोगी सो करूँगा। आज्ञा हो, तो नौकरी कर लूँ।

अम्माने कुछ नहीं कहा, बस प्यार किया। उस प्यारका अर्थ था—बेटा, जो चाहे सो कर। माँके लिए तो तू सदा बेटा ही है।

× × ×

और कार्यके अभावमें, रामेश्वर, अनवरत उद्योगसे साहित्य-समालोचक और राजनीतिक नेता बन बैठा।

४

लाहौरकी ज़िला-कान्फ्रेंसके अध्यक्षके आसनपरसे अपना भाषण समाप्त कर चुकनेके बाद, अधिवेशनकी पहले दिनकी कार्रवाई समाप्त करके जब रामेश्वर अपने स्थानपर आया, तो उसके कोई १५ मिनट बाद उसके हाथमें एक चिट्ठी दी गई—

"क्या मुझे ४ बजे पार्कमें मिल सकोगे ?

—श्यामकी अम्माँ"

अलीगढ़वाले सफ़रके दिनसे ३६५ के छह-गुने दिन गुज़र चुके थे, पर हृदय-पटलपर वह दिन जो चिह्न छोड़ गया था, उसे मिटा न सके थे। इस लम्बे काल और उसकी विभिन्न व्यस्तताओंने उसे शुष्क कर दिया था; पर इस पत्रके इन शब्दोंने मानों एकदम उसे फिर हरा कर दिया—उसमें चैतन्य ला दिया।

रामेश्वरने सोचा—श्याम !—अहा ! वह भी तो साथ होगा !

समय बिताते-बिताते जब चार बजनेपर रामेश्वर पार्कमें पहुँचा, तो 'श्यामकी अम्माँ' उसीकी तरफ़ आ रही थीं।

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"रामेश्वर।"

"मैं अब नामसे पुकारूँगी। रामेश्वर, क्या तुम अब फोटो उतार सकते हो ?"

रामेश्वरने देखा, वही श्यामकी अम्माँ हैं; पर फिर भी कुछ और हैं। उनके इस व्यग्र आग्रहको समझ नहीं पाया, थोड़ा डरने-सा लगा। बोला—अभी तो केमेरा नहीं है। अभ्यास भी नहीं है।

"केमेरा ला नहीं सकते ?"

"अभी ?"

"हाँ अभी !"

"अभी कहाँसे मिलेगा ?"

"क्यों ? क्यों नहीं मिलेगा ? तुम तो नेता हो, इतना नहीं कर सकोगे ?"

"जाता हूँ—कोशिश करूँगा।"—रामेश्वरने बड़ा कड़ा दिल करके यह कह दिया। रामेश्वर जब विदा होकर कुछ ही दूर गया होगा, कि उन्होंने फिर बुलाकर उससे कहा—रामेश्वर सुनो, ये रुपये लो, केमेरा न मिले, तो नया ख़रीद लाओ।

"नहीं नहीं...."

"जाओ—अभी जाओ। जल्दीसे लाना, नहीं तो तस्वीर नहीं खिंचेगी—रात हो जायगी।"

रामेश्वर कुछ कह न सका। इस अनुनय-पूर्ण आज्ञामें ऐसा कुछ था, जो अनुल्लंघनीय था। वह चल दिया। माँ हत-बुद्धि-सी, पागल-सी, निर्जीव-सी वहीं-की-वहीं बैठ गईं।

घंटे-भर बाद जब वह केमेरा लाया, तो माँने हँसनेका प्रयत्न किया। अब तक वह शायद रो रही थीं।

माँ बड़ी सज-धजके साथ आई थीं। जब फ़ोकस ठीक करके रामेश्वर एक-दो-तीन बोलनेको हुआ, तो माँने अपनी सारी शक्ति लगाकर चेहरेपर स्मित हास्यकी चमक ले आनेका प्रयत्न किया। आह! वह हँसी कितनी रहस्यपूर्ण और कितनी दुःखपूर्ण थी! जितना ही उसमें उल्लास प्रकट करनेका प्रयास था, उतना ही उसमें विषम पीड़ाका प्रत्यक्ष दर्शन था।

फ़ोटो खिंच चुकनेपर फिर वह अपना सारा बल लगाकर बड़ी मुश्किलसे सँभली रहीं और रामेश्वरके समीप आकर बोलीं—एक दिन तुमने श्यामकी और मेरी तस्वीर साथ खींची थी, याद है न? वह मैंने तुड़वा दी थी! क्यों, भूल तो नहीं गये? अब एक काम करोगे?

रामेश्वरने मूक दृष्टिमें अपेक्षा और उत्सुक-स्वीकृति भरकर माँको देखा।

" सुनो, मेरा चित्र तैयार करना!"—माँने भीतरकी जेबसे एक फ़ोटो निकालकर देते हुए फिर कहा—और यह लो श्यामका चित्र। इन दोनोंका एक चित्र तैयार करना और उसका बड़े-से-बड़ा रूप (Enlargement) करके अपने यहाँ लगा लेना। यह काम तुम्हीं करना, किसी दूसरेको न देना। जानते हो, श्याम तुम्हें प्यार करता था? दिल्लीमें जब तुम गये थे, वह सो रहा था। जागते ही उसने पूछा—अम्माँ, तछवील-वाले मामा क आँ ऐं? जानते हो, अब तुम्हारा श्याम कहाँ है? क्या ताकते हो? वह मेरी गोदमें छिपकर थोड़े ही बैठा है! यहाँ नहीं; वह बहुत बड़ी गोदमें बैठा है! देखते हो यह सब क्या है?—आकाश है। यह आकाश ही परमात्माकी गोद है। श्याम उसी गोदमें छिप बैठा है। दीखता भी तो नहीं। देखो, चारों तरफ आकाश है, चारों तरफ देखो, कहीं दिखता है क्या? दिखे, तो मुझे भी दिखाना। मैं भी देखूँगी। चुपचाप ही चला गया। अगर मैं उसे देख पाऊँ, तो कहूँ—देख, तेरा तछवीलवाला मामा देख रहा है।—रामेश्वर, वह तुम्हें याद करता गया है।

रामेश्वरका गला रुँध रहा था, मानों आँसुओंका घूँट गलेमें अटक गया हो। माँकी बड़ चल रही थी, मानो शरीरकी बची-खुची शक्ति एकबारगी ही निकलकर खत्म हो जायगी।

" जानते हो।—यही चौथी मार्चका दिन था, इसी दिन, इसी वक्त वह गया था। मैं साल-भरसे इसी चौथी मार्चको भटक रही थी। सोच रही थी—तुम मिलोगे, तो तस्वीर खिंचवाऊँगी, तस्वीरमें हम दोनों साथ रहेंगे और वह तस्वीर तुम्हारे पास रहेगी। तुम मिल गये, तस्वीर खिंच गई। दोनोंको मिलाकर तुम एक तस्वीर बनाओगे न? देखो जरूर बनाना। मैं कहती हूँ, जरूर बनाना। बनाना, बड़ी-से-बड़ी

बनाना और अपने कमरेमें लगाना। जहाँ चाहे भेजना। अखबारोंको भेजना, मित्रोंको भेजना। जहाँ दीखें, श्याम और श्यामकी अम्माँ साथ दीखें अब जा रही हूँ, उसीके पास जा रही हूँ—सदा उसीके पास रहने जा रही हूँ।"

माँकी हालत शब्द-शब्दपर क्षीण होती जा रही थी। माँने कहा—सुनो, एक महीना हुआ, मैं विधवा हो गई। वह भी चौथी ही तारीख थी। चौथी तारीख और मार्चका महीना। आजकी यह चौथी मार्चका दिन मेरे जीवनकी अन्तिम साधका अंतिम दिन है। आज मुझे भी अंतर्हित हो जाना है। मैंने जहर खाया है, तीन घंटे होने आये हैं, अब जहरकी अवधिका अंतिम क्षण दूर नहीं है। मैं फिर दुनियामें न रहूँगी।

रामेश्वरके देखते-देखते माँकी देह निष्प्राण होकर गिर पड़ी।

× × ×

लेखकी और लीडरीको गड्ढेमें डाल रामेश्वर फिर भूली हुई अपनी फ़ोटोग्राफ़रीके ज्ञानको चेताने लगा। सालभरमें उसने श्याम और श्यामकी अम्माँका पूर्णाकार चित्र तैयार कर पाया। जिस कमरेमें वह चित्र लगा, वह उसके आत्मचिन्तनका कमरा बन गया। वहाँ और कोई चित्र न रह सकता था।

अब फ़ोटोग्राफ़ीको ही उसने अपना व्यवसाय और ध्येय बनाया। थोड़े ही समयमें वह मार्केका फ़ोटोग्राफ़र हो उठा।

सभी बढ़िया अख़बारोंमें श्याम और उसकी अम्माँका वह चित्र निकला, और सभीमें उसकी सराहना हुई।



खेल

—०—

मौन-मुग्ध संध्या स्मित प्रकाशसे हँस रही थी। उस समय गंगाके निर्जन बालुकास्थलपर एक बालक और एक बालिका अपनेको और सारे विश्वको भूल, गंगातटके बालू और पानीको अपना एक मात्र आत्मीय बना, उनसे खिलवाड़ कर रहे थे।

प्रकृति इन निर्दोष परमात्म-खंडोंको निस्तब्ध और निर्निमेष निहार रही थीं। बालक कहींसे एक लकड़ी लाकर तटके जलको छटा-छट उछाल रहा था। पानी मानो चोट खाकर भी बालकसे मित्रता जोड़-नेके लिए विह्वल हो उछल रहा था। बालिका अपने एक पैरपर रेत जमाकर और थोप-थोपकर एक भाड़ बना रही थी।

बनाते बनाते भाड़से बालिका बोली—देख, ठीक नहीं बना, तो मैं तुझे फोड़ दूँगी। फिर बड़े प्यारसे थपका-थपकाकर उसे ठीक करने लगी। सोचती जाती थी—इसके ऊपर मैं एक कुटी बना-ऊँगी—वह मेरी कुटी होगी। और मनोहर? ....नहीं, वह कुटीमें नहीं रहेगा, बाहर खड़ा-खड़ा भाड़में पत्ते झोंकेगा। जब वह हार जायगा, बहुत कहेगा, तब मैं उसे अपनी कुटीके भीतर ले लूँगी।

मनोहर उधर अपने पानीसे हिल-मिलकर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहाँ अकारण ही उसपर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी—मनोहर कैसा अच्छा है, पर वह दंगई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अबके दंगा करेगा, तो हम उसे कुटीमें साझी नहीं करेंगे। साझी होनेको कहेगा, तो उससे शर्त करवा

लेंगे, तब साझी करेंगे। बालिका सुरबाला सातवें वर्षमें थी। मनोहर कोई दो साल उससे बड़ा था।

बालिकाको अचानक ध्यान आया—भाड़की छत तो गरम होगी। उसपर मनोहर रहेगा कैसे? मैं तो रह जाऊँगी। पर मनोहर तो जलेगा। फिर सोचा—उससे मैं कह दूँगी भई, छत बहुत तप रही है, तुम जलोगे, तुम मत आओ। पर वह अगर नहीं माना? मेरे पास वह बैठनेको आया ही—तो? मैं कहूँगी—भाई, ठहरो, मैं ही बाहर आती हूँ।...पर वह मेरे पास आनेकी ज़िद करेगा क्या?.... जरूर करेगा, वह बड़ा हठी है।....पर मैं उसे आने नहीं दूँगी। बेचारा तपेगा—भला कुछ ठीक है! ज्यादा कहेगा, मैं धक्का दे दूँगी, और कहूँगी—अरे, जल जायगा मूरख! यह सोचनेपर उसे बड़ा मज़ा-सा आया, पर उसका मुँह सूख गया। उसे मानो सचमुच ही धक्का खाकर मनोहरके गिरनेका हास्योत्पादक और करुण दृश्य सत्यकी भाँति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिकाने दो-एक पक्के हाथ भाड़पर लगाकर देखा—भाड़ अब बिलकुल बन गया है। माँ जिस सतर्क सावधानीके साथ अपने नव-जात शिशुको बिछौनेपर लेटानेको छोड़ती है, वैसे ही सुरबालाने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़के नीचेसे खींच लिया। इस क्रियामें वह सचमुच भाड़को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पैरहीपर तो भाड़ टिका है, पैरका आश्रय हट जानेपर बेचारा कहीं टूट न पड़े! पैर साफ़ निकाल-नेपर भाड़ जब ज्योंका-त्यों टिका रहा, तब बालिका एक वार आह्लादसे नाच उठी।

बालिका एकबारगी ही बेवकूफ मनोहरको इस अलौकिक चातुर्यसे पूरिपूर्ण भाड़के दर्शनके लिए दौड़कर खींच लानेको उद्यत हो गई।

मूर्ख लड़का पानीसे उलझ रहा है, यहाँ कैसी जबर्दस्त कारगुज़ारी हुई है—सो नहीं देखता ! ऐसा पक्का भाड़ उसने कहीं देखा भी है !

पर सोचा—अभी नहीं; पहले कुटी तो बना लूँ। यह सोचकर बालिकाने रेतकी एक चुटकी ली और बड़े धीरेसे भाड़के सिरपर छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेत धीरे-धीरे छोड़कर सुरबालाने भाड़के सिरपर अपनी कुटी तैयार कर ली।

भाड़ तैयार हो गया। पर पड़ोसका भाड़ जब बालिकाने पूरा-पूरा याद किया, तो पता चला एक कमी रह गई। धुआँ कहाँसे निकलेगा ? तनिक सोचकर उसने एक सींक टेढी करके उसमें गाड़ दी। बस, ब्रह्माण्डका सबसे सम्पूर्ण भाड़ और विश्वकी सबसे सुन्दर वस्तु तय्यार हो गई।

वह उस उजड्ड मनोहरको इस अपूर्व कारीगरीका दर्शन करावेगी, पर अभी ज़रा थोड़ा देख तो और ले। सुरबाला मुँह बाये आँखें स्थिर करके इस भाड़-श्रेष्ठको देख-देखकर विस्मित और पुलकित होने लगी। परमात्मा कहाँ विराजते हैं, कोई इस बालासे पूछे, तो वह बताये इस भाड़के जादूमें।

मनोहर अपनी 'सुरी-सुरो-मुर्री'की याद कर पानीसे नाता तोड़, हाथकी लकड़ीको भरपूर ज़ोरसे गंगाकी धारामें फेंककर, जब मुड़ा, तब श्रीसुरबालादेवी एकटक अपनी परमात्मलीलाके जादूको बूझने और सुलझानेमें लगी हुई थीं।

मनोहरने बालाकी दृष्टिका अनुसरण कर देखा—श्रीमतीजी बिलकुल अपने भाड़में अटकी हुई है। उसने ज़ोरसे क़हक़हा लगाकर एक लातमें भाड़का काम तमाम कर दिया !

न जाने क्या क़िला फ़तह किया हो, ऐसे गर्वसे भरकर निर्दयी मनोहर चिल्लाया—सुर्रो रानी !

सुर्रो रानी मूक खड़ी थीं। उनके मुँहपर जहाँ अभी एक विशुद्ध रस था, वहाँ अब एक शून्य फैल गया। रानीके सामने एक स्वर्ग आ खड़ा हुआ था। वह उन्हींके हाथका बनाया हुआ था और वह एक व्यक्तिको अपने साथ लेकर उस स्वर्गकी एक-एक मनोरमता और स्वर्गीयताको दिखलाना चाहती थीं। हा, हंत ! वही व्यक्ति आया और उसने अपनी लातसे उसे तोड़-फोड़ डाला ! रानी हमारी बड़ी व्यथासे भर गईं।

हमारे विद्वान् पाठकोंमेंसे कोई होता, तो उन मूर्खोंको समझाता—"यह संसार क्षणभंगुर है। इसमें दुःख क्या और सुख क्या। जो जिससे बनता है वह उसीमें लय हो जाता है—इसमें शोक और उद्वेगकी क्या बात है ? यह संसार जलका बुदबुदा है, फूटकर किसी रोज जलमें ही मिल जायगा। फूट जानेमें ही बुदबुदेकी सार्थकता है। जो यह नहीं समझते, वे दयाके पात्र हैं। री, मूर्खा लड़की, तू समझ। सब ब्रह्माण्ड ब्रह्मका है, और उसीमें लीन हो जायगा। इससे तू किस लिए व्यर्थ व्यथा सह रही है ? रेतका तेरा भाड़ क्षणिक था, क्षणमें लुप्त हो गया, रेतमें मिल गया। इसपर खेद मत कर, इससे शिक्षा ले। जिसने लात मारकर उसे तोड़ा है, वह तो परमात्माका केवल साधन-मात्र है। परमात्मा तुझे नवीन शिक्षा देना चाहते हैं। लड़की, तू मूर्ख क्यों बनती है ? परमात्माकी इस शिक्षाको समझ और परमात्मातक पहुँचनेका प्रयास कर। आदि आदि।"

पर बेचारी बालिकाका दुर्भाग्य, कोई विज्ञ धीमान् पंडित तत्त्वोप-देशके लिए उस गंगा-तटपर नहीं पहुँच सके। हमे तो यह भी सन्देह है कि सुर्रो एकदम इतनी जड़-मूर्खा है कि यदि कोई परोपकार-रत

पंडित परमात्म-निर्देशसे वहाँ पहुँचकर उपदेश देने भी लगते, तो वह उनकी बातको न सुनती और न समझती। पर, अब तो वहाँ निर्बुद्धि शठ मनोहरके सिवा कोई नहीं है, और मनोहर विश्व-तत्त्वकी एक भी बात नहीं जानता। उसका मन न जाने कैसा हो रहा है। कोई जैसे उसे भीतर-ही-भीतर मसोसे डाल रहा है। लेकिन उसने बनकर कहा— सुरो, दुत् पगली! रूठती है!

सुरबाला वैसी ही खड़ी रही।

"सुरी, रूठती क्यों है?"

बाला तनिक न हिली।

"सुरी! सुरी!........ओ, सुरो!"

अब बनना न हो सका। मनोहरकी आवाज़ हठात् कँपी-सी निकली।

सुरबाला अब और मुँह फेरकर खड़ी हो गई। स्वरके इस कंपनका सामना शायद उससे न हो सका।

"सुरी,....ओ सुरिया! मैं मनोहर हूँ....मनोहर!........... मुझे मारती नहीं!" यह मनोहरने उसके पीठ पीछेसे कहा और ऐसे कहा, जैसे वह यह प्रकट करना चाहता है कि वह रो नहीं रहा है।

"हम नहीं बोलते।" बालिकासे बिना बोले न रहा गया। उसका भाड़ शायद स्वर्गविलीन हो गया। उसका स्थान और बालाकी सारी दुनियाका स्थान, काँपती हुई मनोहरकी आवाज़ने ले लिया।

मनोहरने बड़ा बल लगाकर कहा—सुरी, मनोहर तेरे पीछे खड़ा है। वह बड़ा दुष्ट है। बोल मत, पर उसपर रेत क्यों नहीं फेंक देती, मार क्यों नहीं देती! उसे एक थप्पड़ लगा—वह अब कभी कसूर नहीं करेगा।

बालाने कड़क कर कहा—चुप रहो जी !

" चुप रहता हूँ, पर मुझे देखोगी भी नहीं ?"

" नहीं देखते।"

" अच्छा मत देखो। मत ही देखो । मैं अब कभी सामने न आऊँगा, मैं इसी लायक़ हूँ।"

" कह दिया तुमसे, तुम चुप रहो। हम नहीं बोलते।"

बालिकामें व्यथा और क्रोध कभीका खत्म हो चुका था। वह तो पिघल कर बह चुका था। यह कुछ और ही भाव था। यह एक उल्लास था जो व्याज-कोपका रूप धर रहा था। दूसरे शब्दोंमें यह स्त्रीत्व था।

मनोहर बोला—लो सुरी, मैं नहीं बोलता। मैं बैठ जाता हूँ। यहीं बैठा रहूँगा। तुम जब तक न कहोगी, न उठूँगा, न बोलूँगा।

मनोहर चुप बैठ गया। कुछ क्षण बाद हारकर सुरबाला बोली—हमारा भाड़ क्यों तोड़ा जी ? हमारा भाड़ बनाके दो !

"लो अभी लो।"

"हम वैसा ही लेंगे।"

"वैसा ही लो, उससे भी अच्छा।"

"उसपै हमारी कुटी थी, उसपै धुएँका रास्ता था।"

"लो, सब लो। तुम बताती न जाओ, मैं बनाता जाऊँ।"

"हम नहीं बताएँगे। तुमने क्यों तोड़ा ? तुमने तोड़ा तुम्हीं बनाओ।"

" अच्छा, पर तुम इधर देखो तो।"

" हम नहीं देखते, पहले भाड़ बनाके दो।"

मनोहरने एक भाड़ बनाकर तैयार किया। कहा—लो, भाड़ बन गया।

" बन गया ? "

" हाँ । "

" धुएँका रास्ता बनाया ? कुटी बनाई ? "

" सो कैसे बनाऊँ—बताओ तो । "

" पहले बनाओ, तब बताऊँगी । "

भाड़के सिरपर एक सींक लगाकर और एक पत्तेकी ओट लगाकर कहा—बना दिया ।

तुरन्त मुड़कर सुरबालाने कहा—अच्छा, दिखाओ ।

' सींक ठीक नहीं लगी जी ', ' पत्ता ऐसे लगेगा ' आदि आदि संशोधन कर चुकनेपर मनोहरको हुक्म हुआ —

" थोड़ा पानी लाओ, भाड़के सिरपर डालेंगे । "

मनोहर पानी लाया ।

गंगाजलसे कर-पात्रोंद्वारा वह भाड़का अभिषेक करना ही चाहता था कि सुरों रानीने एक लातसे भाड़के सिरको चकनाचूर कर दिया !

सुरबाला रानी हँसीसे नाच उठीं । मनोहर उत्फुल्लतासे क़हक़हा लगाने लगा । उस निर्जन प्रान्तमें वह निर्मल शिशुहास्य-रव लहरें लेता हुआ व्याप्त हो गया । सूरज महाराज बालकों जैसे लाल-लाल मुँहसे गुलाबी-गुलाबी हँसी हँस रहे थे । गंगा मानों जान-बूझकर किलकारियाँ मार रही थीं । और—और वे लम्बे ऊँचे ऊँचे दिग्गज पेड़ दार्शनिक पंडितोंकी भाँति, सब हास्यकी सार-शून्यतापर मानों मन-ही-मन गम्भीर तत्त्वालोचनकर, हँसीमें भूले हुए मूर्खोंपर थोड़ी दया बख़्शाना चाह रहे थे !



चोरी

—×—

लक्खूको अब चारों तरफ सूना-सूना दीखने लगा। दोनों जून रोटीके लाले थे ही, अब आसरेको ठौर भी न रहा। जिस मिट्टी और फूसके झोपड़ेमें अपनी बहू, तीन बच्चे, बुढ़िया मा और एक दूरकी अनाथा विधवा भाभीको लेकर वह गुजारा करता था, वह आज नीलामपर चढ़ा दिया गया है। तीन साल पहले बीजके लिए जो आलू उसने महाजनसे उधार लिये थे, उनकी कीमत मय सूद दर-सूद वसूल करनेके लिए बेचारे महाजनको झोपड़ा खाली करा लेना पड़ा है। महाजनको इसके लिए कौन टोक सकता है? उनके पास मजिस्ट्रेट साहबकी डिग्री है। और डिग्री यों ही मुफ्त थोड़े ही मिल जाती है। उसके लिए सबूत पहुँचाना पड़ना है और अपने माफ़िक फैसला लेना होता है तथा खर्च करना पड़ता है। यह ठीक है कि फैसला और सबूत ये दोनों ही पैसे खर्चनेसे मिल सकते हैं, पर पैसा खर्चना भी तो कोई कम बात नहीं है। जब पैसेसे मनमाना स्वर्ग और पुण्य मिल सकता है, तो न्याय भी अगर मिले, तो क्या हर्ज है? हम समझते हैं कि संसारमें ऐसी कोई चीज़ नहीं रहने देनी चाहिए, जिसको उचित क़ीमतपर प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त न कर सके, और कदाचित् सभ्यताका नया युग हमें उसके नजदीक ला रहा है। इस युगकी सभी सौगातें खरीदी जा सकती हैं। डिग्री, ऊँची कुर्सी, पदवी, प्रभुत्व, ईमान और आदमी—इन सभी चीज़ोंको सभ्यताके युगने सभीके लिए सहज और प्राप्य बना दिया है। 'सभी' से हमारा मतलब उन सभीसे है, जो

किसी भी तरीकेसे क्यों न हो, उनके उचित दाम चुकानेके लिए भरी जेबोंके स्वामी हों।

हमको इतना मालूम है, और लक्खूको भी इतना ही याद है कि तीन साल पहले उसने महाजनसे आलूका बीज लिया था और उसकी कीमत आठ रुपया होती थी। वह दिये या नहीं दिये, सो उसे याद नहीं है। आठ रुपया उसने एक ही वक्त नकद दे दिये हों, इसपर तो सचमुच विश्वास नहीं होता। यह तो बेचारा लक्खू भी सोचनेकी हिम्मत नहीं कर सकता, पर उसे इसपर अचरज जरूर है कि तीन सालके रुपये उसने अबतक चुकाये क्यों नहीं! उसकी आदत तो ऐसी नहीं है। शायद उसने फसलपर कुछ आलू दिये तो थे! कुछ गल्ला भी महाजनके घर भिजवा दिया था! लेकिन कैसे? महाजनकी बहीमें तो दर्ज नहीं है, और बहीके सामने कोरी यादका भरोसा कैसे किया जा सकता है?

जो कुछ हो, महाजनका कहना है कि उन्हें पैसा वापिस नहीं मिला, और चूँकि महाजनके पल्ले अच्छी खासी रकम है, इसलिए उनका अविश्वास भी नहीं किया जा सकता। फिर उनके पास बही है, और वह निश्चयसे, जोरसे, धर्मके नामपर, जो कहो उसकी क़सम खाकर यह कहनेको तय्यार हैं।

उधर लक्खू गँवार है, दरिद्र है। उसे निश्चय नहीं है, सहमते सहमते बात करता है और क़समसे डरता है।

लेकिन ऐन डिग्रीके मौकेपर ही इतने पुराने कर्जका जिक्र क्यों छिड़ा, इसकी बहसमें पड़नेको लोग तय्यार नहीं हैं। इसका कारण हमारी समझमें यह है कि लक्खूको चिन्ता करनेकी ज़रूरत नहीं मालूम होती थी, इससे निश्चिन्त था; और महाजन, सूद-दर-सूदका हिसाब फैला सकते थे और दूरकी सोच सकते थे, इससे वह भी निश्चिन्त थे।

खैर, नीलामकी तारीखसे १५ दिन पहलेकी बात है कि महाजनने लक्खूको निकलते देखकर अपनी दुकानपर बुलाकर बैठाया और ५–७ मिनट साधारण बातचीतके बाद बहीके एक पन्नेमें दिखाया कि तीन साल हुए, उसने आठ रुपयेके आढ़ उधार लिये थे। अमुक दिन था, अमुक तिथि थी। महाजन देखता था अब भुगताये, अब भुगताये, हिसाब पुराना चला आ रहा है, निपट जाना चाहिए। सूद फैलाकर ५०) होते है। लक्खू चाहे तो हिसाब समझ सकता है। ब्याज-दर कुछ ज्यादे नहीं लगाई गई। जो मामूली है, उससे कम ही लगाई है।

लक्खू कुछ न समझ सका। वह चुपचाप महाजनको देखता रहा।

महाजनने कहा—"देखो, जल्दी दे दोगे तो ठीक होगा।"

लक्खू उठकर चल दिया। उसने कहा—'पचास रुपये!' यह मानो उसने आस्मानसे कहा, या अपनेसे ही कहा! किससे कहा, यह वह खुद नहीं जानता। यह निश्चय है कि महाजनसे नहीं कहा। उसे नहीं माळूम वह कहाँ है, महाजन कहाँ है। 'पचास रुपये!' पचास किसे कहते हैं—पचास, पचास क्या चीज! रुपये! पचास रुपये क्या!—वह मानो कुछ भी न समझ सका! मुँहसे वह कहता था 'पचास रुपये', पर जानता न था, वह क्या कह रहा है।

ज्यों-ज्यों समय बीता, पचास रुपयेका अर्थ समझमें आने लगा। उसे माळूम हो गया, ५०) उसे महाजनको देने हैं—देने होंगे।

महाजन भी उसे रोज रास्तेमें टोककर—'देने होंगे' के साफ-साफ निर्भ्रान्त अर्थ समझाने लगे। 'देने होंगे—सीधी तौरसे, नहीं नालिशसे।' 'नालिश!'—नालिशसे वह डरता था। कितनी शक्तिशालिनी, वज्रकठोरा, यह पिशाचिनी है नालिश! उसने उसके लाल-पगड़ीके

जो दूत देखे थे—उनसे ही उसकी भयंकरताका अन्दाजा लगाकर वह काँप गया। उसने कहा—महाजन, मैं दे दूँगा, धीरे धीरे सब दे दूँगा, पर नालिश नहीं।

महाजनने भी सीधे तौरसे कह दिया—तीन साल तो हो गये। अब कब तक बैठा राह देखूँगा ?

लक्खूने गिड़गिड़ाकर कहा—मेरी इज्जत महाजन, तुम्हारे हाथ है, नालिश नहीं।

लेकिन इज्जतको हाथमें लेकर महाजनको सन्तोष न था, वह तो ५०) चाहता था, इसलिए उसने ठहरनेमें अपनी स्पष्ट असमर्थता जतला दी।

यहाँ कहा जा सकता है कि ५०)में महाजनकी सम्पत्ति नहीं लुटती थी। उनकी महाजनी फिर भी बहाल रहती। हाँ, ५०) में उस लक्खूकी जान, लक्खूके आश्रित छह और जनोंकी जान बचाई जा सकती थी, उन सबकी अनन्त कृतज्ञता कमाई जा सकती थी और यह कुछ टोटेकी कमाई न थी। तिसपर ये वे रुपये थे, जो झूठकी तरह शून्यमेंसे उत्पन्न होकर वहुत थोड़े समयमें प-चा-स बन गये थे! लेकिन महाजनकी ओरसे हम यह कह देना चाहते हैं कि वह यदि ऐसी थोथी सलाहोंमें पड़ते, तो महाजन नहीं हो सकते थे। और वह मूर्ख नहीं हैं। वह अपने मौकेको पहचानते हैं, और उसे खाली नहीं जाने दे सकते।

जैसे हमने इन्द्रका वैभव नहीं देखा, वैसे बेचारे लक्खूने कभी इकट्ठे ५० रुपये नहीं देखे थे। कहाँसे कैसे वह उस वैभवको प्राप्त करे! एड़ी-चोटीका पसीना एक करके, नसीबसे लड़कर, आश्रितोंको एक बार सूखा नाज देकर और आप सिर्फ पानीपर सन्तोष मानकर, दस दिन तक घास खोदकर, लकड़ी ढोकर, भीख माँगकर, लक्खू छह रुपये इकट्ठे कर

पाया। महाजनके पास जाकर बोला—लो महाजन, छह रुपया ये लो ! ऐसे ही धीरे धीरे भुगता दूँगा।

महाजनने कह दिया—वाह ५०) के एवज़में छह रुपये !

लक्खू मुँह लटकाकर जब चलने लगा, तो महाजनने कुछ सोचकर उसे बुला लिया और ६) ले लिए। लेकिन ५०) की जगह ६) लेकर अनन्त कालतक तो ठहरा नहीं जा सकता, इसलिए कुछ ही दिन बाद महाजनने अदालतमें जाकर, खरे दाम चुकाकर पूरे ५०) की डिग्री करा ली।

झोंपड़ा नीलामपर चढ़ा। लक्खू बे-घर हुआ। उसके आश्रित निराश्रय हुए। वह घर, जिसमें लक्खूके पुराने दिन, बीते हुए यादके दिन, सुखके विलासके उल्लासके दिन, अब भी जिन्दा थे, जो लक्खूके समीप उसके बापका, उसकी माँके समीप उसके पतिका, एकमात्र अवशेष संस्मृति-चिह्न था, जो उनके जीवनमें घुल-मिल गया था, जिसके कोनोंमें, भीतर-बाहर चारों तरफ मानों अपनी शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर उनका जीवन-वृक्ष फला-फूला था, जिसके आँगनमें लक्खूकी माका लगाया एक इमलीका दरख्त था और जिसके छप्परपर लक्खूकी लगाई कुम्हड़ेकी बेल थी—वह घर, वह झोंपड़ा, जब विराने हाथोंमें चले जानेके लिए बलात् छोड़ना पड़ा, तो मानों आत्माको, कुत्तों और गिद्धोंके खाद्यके लिए अपना शरीर छोड़ना पड़ा।

जब ये सब घरसे निकले, लक्खूके सिरपर दो मिट्टीकी हंडियाँ और एक हाथमें एक पोटली थी, बहूकी छातीपर एक बच्चा और अंगुली पकड़े हुए दूसरा बच्चा था। बड़ा बालक माका हाथ थामे-थामे चल रहा था। पीछे लक्खूकी मा भी आ रही थी, जिसके पास लकड़ीका एक छोटा-सा बक्स था। लकड़ीके बक्समें जवाहिरात हो सकते थे,

इसलिए उसे तो बे रोक-टोक जाने देना ठीक न था; परंतु इसके लिए महाजनको और अदालत-दूतोंको धन्यवाद दे देना हमारा कर्तव्य है कि उन्होंने हंडियोंको और पोटलीको नहीं छीना। हम इस बातको स्वीकार करते हैं कि डिग्री पास रहते उन्हें उनके कपड़े तक उतरवा लेनेका अधिकार था, और यदि आवश्यकता होती, तो कानूनकी पृष्ठ-पोषक तमाम डंडा-शक्ति उस अधिकारकी रक्षाके लिए प्रस्तुत हो सकती थी, परन्तु उस अधिकारका प्रयोग नहीं किया गया। इसके लिए हम महाजनकी विशालहृदयता और चपरासियोंके शक्ति-संयमका आभार माने बिना नहीं रह सकते।

जब ये घरसे खदेड़े गये, अभागे बस्तीके बाहर बड़े मैदानमें पहुँचे, तब उन्हें अनुभव हुआ कि कहाँ जाना होगा, क्या करना होगा, इसपर विचार करना आवश्यक है। लेकिन बहुत-कुछ विचार कर चुकनेपर भी कुछ निश्चय न हो सका। गाँव, जहाँ इन्हें कुछ आश्रयकी उम्मीद थी, छह कोस था और वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं, इसलिए सामनेके पीपलके पेड़के तले बसेरा डाल दिया।

पेड़के नीचे बैठा लक्खू सोच रहा था कि पेटमें डालनेके लिए कहाँसे, क्या, किस तरह जुटाया जाय कि उधरसे धन्नू लोधा आता दिखाई दिया। आते ही उसने कहा—कहो भाई, यहाँ कैसे पड़े हो?

लक्खूने अपनी कहानी कह दी।

धन्नूने कहा—तो भूखों मरोगे?

लक्खूने कहा—क्या करूँ?

"क्या करूँ? क्यों?—हम तो भूखों नहीं मरते।"

लक्खूने कहा—न, न, सो मुझसे न होगा।

धन्नू बोला—अभी तो न होगा, सो तो मै भी जानता हूँ; पर मैं कहे देता हूँ, होगा तो यही होगा। साधु बने रहकर तुम छह आदमियोंका पेट नहीं भर सकते। बात यह है, भूखों रहनेकी नौबत अभी तुम तक ही आई है। जब तुम्हारे बच्चे रोटी-रोटी चिल्लायँगे, मा दाने दानेके लिए तरसेगी, बहू भरी और गूँगी आँखोंसे तुम्हें देखेगी—तब देखना है, तुम क्या करते हो। तुम उन्हें मार दे सको, तब तो अच्छा है, तब तो तुम सचमुच साधु बन सकते हो। नहीं तो—नहीं तो, भगवान् न करे, तुम्हें वही करना होगा।....क्या कहते हो, मेहनत? मेहनतसे पैदा करोगे? वाह, लक्खू! अब तक तुमने मेहनत नहीं की, तो क्या और कुछ किया है? पर कहाँ है वह तुम्हारी मेहनत और उसका फल? सूखकर तुम काँटा हो गये हो, पैसे पैसेको तुम मुहताज हो, दाने दानेके लिए फिक्र कर रहे हो, पीपलके नीचे बसेरा डाले पड़े हो। वह महाजन बड़ी मेहनत करता है न, कि फूलके बोरा बन रहा है। तुम जैसे उसमें तीन बनें। दिन-भर तकियेके सहारे ऐंड़ता है, और डिग्री लाकर तुम्हारा घर छीन लेता है। यह है तुम्हारी मेहनत!........और हाँ, क्या कहा?—ईमानदारी? ईमानदारी कहाँ रहती है, सो भी तुम कुछ जानते हो? ईमानदारी या तो रहती है परमात्माके पास या बेईमानोंके पास। पैसा उसका मालिक है। कोई गरीब कभी ईमानदार सुना है? और किसी पैसेवालेको तुम बेईमान कहनेकी हिम्मत कर सकते हो? हिम्मत करके देखो, वह गवाहोंसे अपनी ईमानदारी दुनियाकी नाकपर ऐसी साबित करे कि तुम्हें जेल जाना पड़े। बोलो, कौन कह सकता है महाजन बेईमान है और तुम ईमानदार? ईमानके दो कागज उसके पास हैं, एक बही और दूसरी डिग्री! और ईमानका बाप उसके पास है—पैसा! तुम्हारे पास क्या

है ?—कुछ नहीं। इससे साफ़ साबित है, तुम बेईमान हो। फिर ईमान क्या है—यह भी तो समझो । ब्राह्मण कहता है—ईमानपर क़ायम रहो, मुझे पैसा चढ़ाओ । राजा कहता है—ईमानपर क़ायम रहो, टैक्स दो और हमारा हुक्म मानो। बनिया कहता है—ईमानपर कायम रहो, सूद चुकाते रहो । और सब कहते हैं—ईमानपर क़ायम रहो, तुम ग़रीब हो, ग़रीब ही बने रहो; नीच हो, उसीमें सन्तोष रक्खो, कभी सिर न उठाओ, यही तुम्हारा ईमान है। अब हम क्या कहते हैं ? हमने भी उन्हींकी बातें अपने सिरमें ठूँस ली हैं । हम भी कहते हैं—अच्छा मालिक, हम कुछ न कहेंगे, ईमानपर क़ायम रहेंगे । हम समझते हैं, हम जानवर हैं, वे प्रभु हैं। यह तुम्हारी ईमानदारी है, जिसने हमें यह सिखाया है। नहीं। हम कहेंगे—ईमानपर हम क़ायम हैं, तुम्हारे पास धन बहुत है, उसमें हमारा हिस्सा है, हमें दो। नहीं तो हम ले लेंगे। कहेंगे—ईमानपर क़ायम रहो, चुपचाप धन हमें दे दो। नहीं तो हम छीन लेंगे। एक दफ़े हमने समझ लिया कि इसमें बेईमानी नहीं है, तो बेईमानी नहीं रहती।

लक्खूने कहा—मेरी तो समझमे तुम्हारी बात आई नहीं। मुझे तो डर लगता है।

धन्नूने कहा—डर ! इस डरहीकी तो सारी गड़बड़ है । अपनी ईमानदारीको मनवानेके लिए उन्होंने कैसे बड़े बड़े डरके भूत खड़े कर दिये हैं—अदालत, हवालात, जेल, फाँसी ! लेकिन भई, जो नहीं डरता, उसके लिए ये भूत कुछ नहीं हैं । जब हम अपनी बात लेकर उठे हैं, तो इस डरको तो हटा देना होगा । उल्टे हमें अपने डरके साधन खड़े करने होंगे। अगर वह सीधी तरह हमारी बनाई ईमानदारी

कबूल नहीं करेंगे, तो हम अपने साधनोंको सामने करके कहेंगे—मानो, नहीं तो ये देखो, लूट, चोरी, डकैती, क्रान्ति।........

लक्खूने बीचहीमें रोककर कहा—धन्नू भाई, यह तुम क्या कह रहे हो? तुम तो यह चोरीपर जैसे सीना जोरीका उपदेश देते हो। तुम तो गाँवमें सबसे भले आदमी समझे जाते थे। मैं जानता था तुम ऐसे हो गये हो, पर समझता था तुम इसपर अफ़सोस करते होगे।

धन्नूने उत्तर दिया—जिसपर अफ़सोस करूँ, ऐसा काम मैं अपनी शक्ति-भर कभी नहीं करता। तुम जानते हो, मैं अकेला हूँ, मेरे आगे-पीछे कोई नहीं। लाचार होकर तो मैं ऐसे काममें पड़ नहीं सकता था। मैं मरनेसे नहीं डरता, भूखों मरनेसे भी नहीं डरता। भूखों मर-नेकी ही चाहे नौबत क्यों न आ जाती, अपने पेटके ख़यालसे तो मैं ऐसा कभी न करता। मैं इतना निकम्मा, इतना नीच कभी नहीं हो सकता। मैं तो इसमें जान-बूझकर, सोच-समझकर पड़ा हूँ। और मैं समझता हूँ, मैं कभी भला आदमी था, तो उससे आज ज्यादे ही हूँ—कम नहीं।

लक्खूने साफ़-साफ़ कह दिया कि उसकी बातें पागलपनकी बातें हैं, और वह और आगे नहीं सुनना चाहता। धन्नूने इसपर चलनेकी तय्यारी की और पाँच रुपये निकालकर देने लगा। कहा—इस वक्त और ज्यादे नहीं हैं, इसका मुझे दुःख है।

लक्खूने लेनेसे साफ़ इनकार कर दिया। धन्नूने कहा—बेवकूफ़ मत बनो। मेरा कहा मानो। रुपये ले लो, काम आयँगे।

उसने न लिये। धन्नूने कहा—तुम्हारे लिए नहीं, बच्चोंके लिए और माके लिए दे रहा हूँ।

उसने लेना फिर भी स्वीकार न किया। धन्नूने फिर भी कोशिश की, पर उसने हठ न छोड़ी। धन्नू चला गया।

उसके ७ रोज़के बादकी बात है। जंगलमें एक सूने शिवालेमें लक्खू रहता था। आज दिन-भर बच्चोंको कुछ नहीं मिला। खुद वह तीन रोजसे निराहार भटकता रहा है। औरोंको भी डेढ़ डेढ़, दो-दो रोज़का उपवास हो गया है। धन्नू आया। उसने पाँच रुपये दिये,—स्वीकार कर लिये गये। वह चला गया।

ऐसे कितने दिन गुज़रे, पता नहीं। महीने भर बाद लक्खू चोरीके अपराधमें पकड़ा गया। रातके समय बागसे उसने कुछ आम तोड़े थे। आम ले जानेकी तय्यारीमें था कि मालिकोंने उसे घेर लिया और पकड़ लिया। वह एक बार घर जानेकी इजाजत चाहता था। कहता था, मैं खुद आ जाऊँगा, नहीं तो एक आदमी साथ चले, लेकिन उन्होंने न माना। लक्खू इसपर जबर्दस्ती अपनेको छुटा, उनकी पकड़मेंसे भाग निकला। घरपर मा बहुत अशक्त थी। बुड्ढा शरीर भूख कब तक बर्दास्त कर सकता था? दिन-भर घूम-फिरकर भी जब कुछ न मिला, तो बागके पास जाते हुए आम देखकर लक्खूको ख़याल हो आया कि इसीसे माको कुछ सहारा मिले। रात उन्हीं आमोंको वह लेने गया था। खाली हाथ जब वह माके पास लौटा, तो नहीं जानता था, वह खुशी मनाये या अफ़सोस! आम तो ला नहीं सका, पर खुद तो माके पास आ गया।

सवेरा होते ही सिपाहीके साथ माली शिवालेपर मौजूद हो गया।

रोने-धोनेकी, पाप-पुण्यकी कौन सुनता है। लक्खूको सिपाहीकी हथकड़ीमें बँधकर साथ चलना पड़ा।

मजिस्ट्रेटके सामने चोरीका अपराध था। यह अपराध खुद तो कुछ बहुत बड़ा न था, पर उसके इस प्रश्नका कोई सन्तोषप्रद उत्तर न दे सकनेपर कि उसकी कमाईका जरिया क्या है, जरासी चोरीका अपराध गुरुतम हो गया। वह कहता था—जी, मैं कुछ नहीं करता, भूखा रहता हूँ। कुछ दाने-बाने मिल गये, पैसे मिल गये, या मज़दूरीसे जो आ गया, उसीसे कुछ खानेको ले लेता हूँ। लेकिन यह भी कोई जवाब है। मजिस्ट्रेट साहबने सीधा दो सालका हुक्म सुना दिया !

दो साल तक घरवालोंका क्या हुआ, किसको खबर? हाँ, अगर धनञ्जयसिंह—धन्नू—ने उनकी खबर न ली होगी, तो अवश्य परमात्माने ली होगी, इसमें संशय नहीं है।

लक्खू महाशय जब जेलसे निकले, तो सीधे-सादे भोले-भाले दीन लक्खू नहीं निकले। वह पक्के, छँटे हुए, उस्ताद चोर निकले। लेकिन यह मानना होगा कि धनञ्जयसिंहकी शिक्षामें और जेलकी शिक्षामें महासागरोंका अन्तर था। धनञ्जयसिंहका कृत्य, हो सकता है, विकृत तर्क और बुद्धिविपर्ययका परिणाम हो, किन्तु उसमें सिद्धान्तोंका—दयाका—समावेश अवश्य था। इधर लक्खू महाशयकी चोरी कुटिल शुद्ध स्वार्थका परिणाम थी—एक लत थी, व्यसन थी। लेकिन इतना अवश्य है कि लक्खू पहले जैसी कठिनतामें नहीं है, और चैनसे दिन बिताता है।



अपना अपना भाग्य



१

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकनेपर हम सड़कके किनारेकी एक बेंचपर बैठ गये।

नैनीतालकी संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुईके रेशे-से, भाप-से, बादल हमारे सिरोंको छू-छूकर बेरोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारीसे रंगकर कभी वे नीले दीखते, कभी सफ़ेद और फिर ज़रा देरमें अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अँग्रेज़ोंका एक प्रमोद-गृह था जहाँ सुहावना-रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्वमें था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

तालमें किश्तियाँ अपने सफ़ेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अँग्रेज़ यात्रियोंको लेकर, इधरसे उधर खेल रही थीं और कहीं कुछ अँग्रेज़ एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई-सी शक्लकी डोंगियोंको मानों शर्त बाँधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारेपर कुछ साहब अपनी बन्सी पानीमें डाले सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ट मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉनमें बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेलका ही अंश था। इस तमाम खेलको उतने क्षणोंका उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी

देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानों खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगेकी चिन्ता न थी, बीतेका ख्याल न था। वे शुद्ध तत्कालके प्राणी थे। वे शब्दकी सम्पूर्ण सचाईके साथ जीवित थे।

सड़कपरसे नरनारियोंका अविरत प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँसे आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्रके सब तरहके लोग उसमें थे। मानों मनुष्यताके नमूनोंका बाज़ार, सजकर, सामनेसे इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्वमें तने अँग्रेज़ उसमें थे, और चिथड़ोंसे सजे, घोड़ोंकी बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मानको कुचलकर शून्य बना लिया है, और जो बड़ी तत्परतासे दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अँग्रेज़ बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़े, पिताकी उँगली पकड़कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँग्रेज़ पिता थे जो अपने बच्चोंके साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुज़ुर्गीको अपने चारों तरफ़ लपेटे धन-सम्पन्नताके लक्षणोंका प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अँग्रेज़ रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज़ चलती थीं। उन्हें न चलनेमें थकावट आती थी, न हँसनेमें लाज आती थी। कसरतके नामपर घोड़ोंपर भी बैठ सकती थीं, और घोड़ेके साथ-ही-साथ, ज़रा जी होते ही, किसी हिन्दुस्तानीपर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चारकी टोलियोंमें निश्शंक, निरापद, इस प्रवाहमें मानों अपने स्थानको जानती हुई, सड़कपरसे चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारतकी कुल-लक्ष्मियाँ, सड़कके बिल्कुल किनारे-किनारे, दामन बचातीं और सम्हालती हुईं, साड़ीकी कई तहोंमें सिमट-सिमटकर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमाके आदर्शको अपने परिवेष्टनोंमें छिपाकर, सहमी-सहमी धरतीमें आँख गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थीं।

इसके साथ ही भारतीयताका एक और नमूना था। अपने कालेपनको खुरच-खुरचकर बहा देनेकी इच्छा करनेवाले अँग्रेज़ी-दाँ पुरुषोपम भी थे, जो नेटिवको देखकर मुँह फेर लेते थे और अँग्रेजको देखकर आँखें बिछा देते थे, और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वह अकड़कर चलते थे,—मानों भारतभूमिको इसी अकड़के साथ कुचल-कुचलकर चलनेका उन्हें अधिकार मिला है।

२

घण्टेके घण्टेके सरक गये। अंधकार गाढ़ा हो गया। बादल सफ़ेद होकर जम गये। मनुष्योंका वह ताँता एक-एककर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़कपर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं-के-वहीं बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लॉन बर्फ़की चादरकी तरह बिल्कुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। तल्लीतालकी बिजलीकी रोशनियाँ दीप-मालिकासी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले-हुए प्रकृतिके जल-दर्पणपर प्रतिबिम्बित हो रही थी। और दर्पणका काँपता हुआ, लहरें लेता-हुआ वह तल उन प्रतिबिम्बोंको सौ-गुना हज़ार-गुना करके, उनके प्रकाशको मानों एकत्र और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ोंके सिरपरकी रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्देने आकर इन सबको ढँक दिया। रोशनियाँ मानों मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत-से पहाड़ भी इस सफ़ेद पर्देके पीछे छिप गये। पासकी वस्तु भी न दीखने लगी। मानों यह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इस घनी, गहरी सफ़ेदीमें दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागरने फैलकर संसृतिके सारे अस्तित्वको डुबो दिया। ऊपर नीचे, चारों तरफ़, वह निर्भेद्य, सफ़ेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिल्कुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलोंमें जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्यमें, कहींसे ग्यारह बार टन्-टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर क़ब्रमेंसे आवाज़ आ रही हो!

हम अपने-अपने होटलोंके लिए चल दिये।

३

रास्तेमें दो मित्रोंका होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

तालके किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवरकोट तर हो गये थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवाके कण-कणमें बारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोटपर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्तेमें तालके बिल्कुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जीमें बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भीगे कपड़ोंसे छुट्टी पा, गरम बिस्तरमें छिपकर सो रहना चाहता था। पर साथके मित्रकी सनक

कब उठेगी, और कब थमेगी—इसका क्या कुछ ठिकाना है ! और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अंदाज़ है ! उन्होंने कहा—आओ, ज़रा यहाँ बैठें ।

हम उस चूते कुहरेमें रातके ठीक एक बजे, तालाबके किनारेकी उस भीगी, बर्फ़ीली, ठंडी हो रही लोहेकी बेंचपर बैठ गये ।

५–१०–१५ मिनट हो गये । मित्रके उठनेका इरादा न मालूम हुआ । मैंने खिझलाकर कहा—

" चलिए भी.... "

" अरे, ज़रा बैठो भी.... "

हाथ पकड़ कर ज़रा बैठनेके लिए जब इस ज़ोरसे बैठा लिया गया, तो और चारा न रहा—लाचार बैठ रहना पड़ा । सनकसे छुटकारा आसान न था, और यह ज़रा बैठना भी ज़रा न था ।

चुप-चुप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

" देखो, वह क्या है ? "

मैंने देखा—कुहरेकी सफ़ेदीमें कुछ ही हाथ दूरसे एक काली सी मूरत हमारी तरफ़ बढ़ी आ रही थी । मैंने कहा—होगा कोई ।

तीन गज़ दूरीसे दीख पड़ा, एक लड़का सिरके बड़े बड़े बालोंको खुजलाता हुआ चला आ रहा है । नंगे पैर है, नंगे सिर । एक मैली-सी कमीज़ लटकाये है ।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है ! उसके क़दमोंमें जैसे कोई न अगला है, न पिछला है, न दायाँ है, न बायाँ है ।

पासकी चुंगीकी लालटैनके छोटेसे प्रकाश-वृत्तमें देखा—कोई दस बरसका होगा । गोरे रंगका है, पर मैलसे काला पड़ गया है, आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं । माथा जैसे अभीसे झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचेकी धरती, न ऊपर चारों तरफ़ फैला हुआ कुहरा, न सामनेका तालाब और न बाक़ी दुनिया । वह बस अपने विकट वर्तमानको देख रहा था।

मित्रने आवाज़ दी—ए !

उसने जैसे जागकर देखा और पास आ गया।

" तू कहाँ जा रहा है रे ? "

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

" दुनिया सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है ? "

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

" कहाँ सोयेगा ? "

" यहीं कहीं ।"

" कल कहाँ सोया था ? "

" दुकानपर । "

" आज वहाँ क्यों नहीं ? "

" नौकरीसे हटा दिया। "

" क्या नौकरी थी ? "

" सब काम । एक रुपया और जूठा खाना । "

" फिर नौकरी करेगा ? "

" हाँ .... "

" बाहर चलेगा ? "

" हाँ...."

" आज क्या खाना खाया ? "

" कुछ नहीं ।"

" अब खाना मिलेगा ? "

" नहीं मिलेगा । "

" यों ही सो जायगा ? "

" हाँ...."

" कहाँ ? "

" यहीं कहीं ।"

" इन्हीं कपड़ोंसे ? "

बालक फिर आँखोंसे बोलकर मूक खड़ा रहा । आँखें मानो बोलती थीं—'यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न ! '

" माँ-बाप हैं ? "

" हैं । "

" कहाँ ? "

" १५ कोस दूर गाँवमें ।"

" तू भाग आया ? "

" हाँ । "

" क्यों ? "

" मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं,—सो भाग आया । वहाँ काम नहीं, रोटी नहीं । बाप भूखा रहता था और मारता था । माँ भूखी रहती थी

और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँवका था,—मुझसे बड़ा। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।"

"कहाँ गया?"

"मर गया।"

इस ज़रा-सी उम्रमें ही इसकी मौतसे पहचान हो गई!—मुझे अचरज हुआ, दर्द हुआ, पूछा—"मर गया?"

"हाँ, साहबने मारा, मर गया।"

"अच्छा हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील दोस्तोंके होटलमें पहुँचे।

"वकील साहब!"

वकील लोग, होटलके ऊपरके कमरेसे उतरकर आये। काश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोज़े-चढ़े पैरोंमें चप्पल थी। स्वरमें हलकी-सी झुँझलाहट थी, कुछ लापर्वाही थी।

"ओ-हो, फिर आप!—कहिए?"

"आपको नौकरकी ज़रूरत थी न?—देखिए, यह लड़का है।"

"कहाँसे लाये?—इसे आप जानते हैं?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चेमें गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहींसे—'लो जी, यह नौकर लो'।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी....जी, बस खूब है। ऐरे गैरेको नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय।"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ!"

" मानें क्या ख़ाक ?—आप भी....जी अच्छा मज़ाक करते हैं । ....अच्छा, अब हम सोने जाते हैं। "

और वह चार रुपये रोजके किरायेवाले कमरेमें सजी मसहरीपर सोने झटपट चले गये।

४

वकील साहबके चले जानेपर होटलके बाहर आकर मित्रने अपनी जेबमें हाथ डालकर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराशभावसे हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे।

" क्या है ? "—मैंने पूछा।

" इसे खानेके लिए कुछ देना चाहता था " अँग्रेज़ीमें मित्रने कहा—" मगर दस-दसके नोट हैं। "

" नोट ही शायद मेरे पास हैं;—देखूँ ?"

सचमुच मेरी जेबमें भी नोट ही थे। हम फिर अँग्रेज़ीमें बोलने लगे। लड़केके दाँत बीच-बीचमें कटकटा उठते थे।—कड़ाकेकी सर्दी थी।

मित्रने पूछा—" तब ?"

मैंने कहा—" दसका नोट ही दे दो। " सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—" अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदयमें जितनी दया है, पासमें उतने पैसे तो नहीं। "

" तो जाने दो; यह दया ही इस ज़मानेमें बहुत है।"—मैंने कहा।

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़केसे बोले—

" अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह ' होटल-डि-पव ' जानता है ? वहीं कल १० बजे मिलेगा ? "

" हाँ....कुछ काम देंगे हज़ूर ? "

" हाँ-हाँ ढूँढ़ दूँगा। "

" तो जाऊँ ? "—लड़केने निराश आशासे पूँछा ।

" हाँ "—ठंडी सांस खींचकर फिर मित्रने पूँछा—" कहाँ सोयेगा ? "

" यहीं-कहीं; बेंचपर, पेड़के नीचे—किसी दुकानकी भट्टीमें । "

बालक कुछ ठहरा । मैं असमंजसमें रहा । तब वह प्रेतगतिसे एक ओर बढ़ा और कुहरेमें मिल गया । हम भी होटलकी ओर बढ़े । हवा तीखी थी—हमारे कोटोंको पारकर बदनमें तीर-सी लगती थी ।

सिकुड़ते-हुए मित्रने कहा—" भयानक शीत है । उसके पास कम—बहुत कम कपड़े.... ! "

" यह संसार है यार ! " मैंने स्वार्थकी फिलासफ़ी सुनाई " चलो, पहले बिस्तरमें गर्म हो लो, फिर किसी औरकी चिन्ता करना ।"

उदास होकर मित्रने कहा—" स्वार्थ !—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो—या बेहयाई !"

\+ \+ \+ \+

दूसरे दिन नैनीताल-स्वर्गके किसी काले गुलाम पशुके दुलारका वह बेटा—वह बालक, निश्चित समयपर हमारे ' होटल-डि-पब ' में नहीं आया । हम अपनी नैनीताली सैर खुशी-खुशी ख़तम कर चलनेको हुए । उस लड़केकी आस लगाते बैठ रहनेकी जरूरत हमने न समझी ।

मोटरमें सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़कके किनारे, पेड़के नीचे ठिठुरकर मर गया ।

मरनेके लिए उसे वही जगह, वही दस बरसकी उम्र और वही काल चिथड़ोंकी कमीज़ मिली ! आदमियोंकी दुनियाने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बतानेवालोंने बताया कि गरीबके मुँहपर, छाती, मुट्ठियों और पैरों-पर बरफकी हलकी-सी चादर चिपक गई थी। मानो दुनियाकी बेहयाई ढकनेके लिए प्रकृतिने शवके लिए सफेद और ठण्डे कफ़नका प्रबंध कर दिया था !

सब सुना और सोचा——अपना-अपना भाग्य !



अंधेका भेद

यह ८५) रुपयेकी मेज़ पारसाल खरीदी गई थी। बात यह हुई कि एक मित्र को शतरंजके बोर्डकी जरूरत हुई। वह शतरंज खेलना नहीं जानते थे, पर अपने सलाहकारोंकी आवश्यकतापर टुक ध्यान देकर ५-७ रोज हुए, उन्होंने हाथी-दाँतके शतरंजके मोहरे खरीदे हैं। उसके लिए बोर्डकी कमी है। वह मेरे पास आए। चाहते थे कि वह जो काश्मीरी गेटमें मेसर्स........की दूकान है, मैं वहाँ साथ-साथ चलूँ। बग्घी खड़ी थी, एक रायबहादुरके साथ बाज़ारमें होकर बग्घीमें बैठे हुए निकलना बुरा नहीं मालूम हुआ। ऐसे कामके लिए तो मैं अपने किसी छोटे-मोटे कामका हर्ज भी कर देता, पर अभी तो एकदम हाथमें कुछ काम ही नहीं था।

मेसर्स........के यहाँ खुद लाला साहबने चीजें दिखाईं; पर कुछ जँची नहीं। मित्रको तो बढ़िया चाहिए।

लालासाहबने अर्ज़ किया—"फर्मायशपर बन सकती है।"

"जरूर बना दीजिए। एतवार तक मिल जाय।"

"........पेशगी?"

१०) पेशगी दे दिये गये। बाकी फिर दे दिये जायँगे।

दिन थे, मैं मेज़पर पैन्सिलसे लकीरें खींचकर शतरंज खेला करता था। मेरी जानमें, इस कारण, कुछ कम अच्छी शतरंज नहीं खेली जाती थी। पर अपने अनुभवको जतानेका यह मौक़ा नहीं था। अपनी

ही ओछी होती। सुनकर रायबहादुर मित्र भी क्या सोचेंगे। इसलिए अपनी बात मैने अपने मुँहमें ही रक्खी, और मन-ही-मन शर्माने लगा।

तभी मेरी निराली निगाह इस ८५) रुपयेकी मेज़पर पड़ी। कहावत है—'ऊँची दुकान, फीका पकवान।' यह कहावत ठीक तो है, पर ढंग ठीक नहीं। मैं इसका शिष्टरूप पसंद करूँगा—'ऊँची दुकान, सजा पकवान'। अर्थमें तो अन्तर पड़ता नहीं; हाँ, दूसरा रूप सभ्य, शिष्ट और सुननेलायक जान पड़ता है। तो साहब, इस ऊँची दुकान-पर पकवान तो नहीं, हाँ फर्नीचर खूब सजा-सजा लगा हुआ था।

पैसोंकी सुबिधा होते ही ऐसा सामान—जिससे दूसरोंकी भी और अपनी भी आँखोंमें अपना गौरव बढ़े—इकट्ठा करनेमें मज़ा आता है, भीतरसे जैसे एक शाबाशी मिलती है। जीवनकी कृतकार्य्यताका यह भी एक ज़रूरी काम है।

फिर जो अभी एक तरहकी शर्म उठ रही थी, उसे मिटानेके ख़याल-से थोड़ासा बढ़नेकी इच्छा हुई। अपनेको, दुकान-मालिक लाला साहब और रायबहादुरको, सबको यह मालूम होना चाहिए कि मैं भी कुछ-कुछ बराबरी कर सकता हूँ।

शायद यह भी ख्याल रहा हो—मैंने मेज़पर निगाह डाल दी, इशारा करके कहा—"इसके क्या....!" छूटते ही लाला साहबने मेज़को झाड़-बुहारकर चमका दिया—दराज़ देखिए, यह आईना, यह जोड़ कैसा दिया गया, पालिश बिल्कुल...., बड़ी उम्दा चीज़ है, आपकी निगाह ही....आदि आदि अविराम बखान करके कहा—"ज़रूर ले जाइए। कुछ चीज़ मालूम होगी।....हाँ, १००) रुपये।"

मेरी ८५) से कम कहनेकी हिम्मत न हुई। अजी साहब, रायबहा-दुर साथ हैं। इसलिए लाला साहब उनके सामने कुछ नहीं कह सकते।

बाक़ी और किसीको १००) रुपयेसे एक पाई कम नहीं करते । चीज़ है....। लेकिन....। सारांश, वह ८५) की मेज़ मेरे यहाँ आगई ।

यहाँ एक बात ज़रूर कह दूँगा । व्हाइटवे-लेडलाके यहाँ ऐसी ही मेज़ देखी थी । पालिश और चमकदार था । काम भी अच्छा ही होगा । १५०) में आती थी । मैंने नहीं ली । देशी फर्म रहते विलायतीसे क्यों लूँ ? देशभक्ति—जो वक्तपर नफ़ा पहुँचाती है, जो मँहगी नहीं पड़ती—ऐसी देशभक्तिको मै नहीं जाने देता हूँ । ह्वाइटवे-फ़र्मको मैं बहुत कम अपनाता हूँ । यह मैं भी जानता हूँ, और औरोंको भी जनाता रहता हूँ ।

पारसाल जबसे यह मेज़ आई है, तबसे इसकी जोड़की कुर्सीका अभाव अखरता है । यह बेतकी कुर्सी मेज़के सामने जँचती नहीं, टेस्ट-के खिलाफ़ है । कोई भला मानस देखेगा, तो क्या कहेगा ? स्प्रिङ्गदार घूमती हुई 'रिवाल्विंग चेअर' हो तो, ठीक हो जाय । कुछ मेलकी चीज़ तो दीखे ।

ज़िन्दगीके ३२ साल ऐसी कुर्सीके बग़ैर कट गये हैं । अब समझ नहीं पड़ता, कैसे कट गये ! अब तो जब-तब ध्यान उसके अभा-वकी ओर ही जाता है । आख़िर नाम लेते-लेते, वह कुर्सी आज आई है । काली है, चमकदार सीट बड़ी उम्दा है, स्प्रिङ्ग खूब उछलते हैं । मेजके सामने लगा दी गई है । अब कमरेकी शकल कुछ बन गई है ।

पैसेकी सुविधा होनेसे रहता तो अच्छा है । पहले धरतीपर ही कागज़ धरकर लिखता था । कैसी मुश्किल पड़ती होगी ! अब आराम-से लिखूँगा । सबेरे जो उस अखबारका तक़ाज़ा आया है, सो आज इसी कुर्सीपर बैठकर लिखूँगा ।

खाना खाकर पलंगपर लेट गया । श्रीमती पान दे गईं। पान चबाते-चबाते सोचा—थोड़ा १५-१० मिनट लेट लूँ, तब लिखना आरंभ करूँगा। पर लेटा, तो लेखकी बात सोचने लगा। क्या लिखना होगा? कुछ बात ही समझमें नहीं आती। ५-१० मिनट हो गये, और दिमाग़ शून्य ही रहा । उठकर बाहर छज्जेपर आया, बरामदेमें गया, आसमान देखा—इन चीलोंकी जगह, कोई उड़ती सूझ होती, तो अभी दिमाग़से मारकर गिरा लेता और मसाला देकर सजा कर पेश कर देता।

मुट्ठी बाँधी, मुट्ठी खोली, कई काग़ज़की चेपियोंको गुडी-मुड़ी करके यहाँ-वहाँ फेंका, आसमान देखा, धरती देखी, कदम गिने—इस तरह न जाने क्या-क्या करते ५-७ मिनट होनेपर मैं उस नई कुर्सीपर जा बैठा।

वह तो डेढ़ हाथ धँचक गई! मैं उछल पड़ा—उछल कर पड़ा वहीं मखमली कुशनपर। हलके २-१ गद्दे और खाये। यह बड़ा अच्छा लगा। कुरसीका नया नया स्वाद था, बहुत ही मन भाया।

भागते-उड़ते विचारोंकी चौकसीके लिए दिमाग़को छोड़ दिया। हुक्म था—जो मिले, पकड़कर मेरी क़लमके नीचे डाल दो, मैं फिर उनका भोज बनाऊँगा। मैं भी चौकन्ना हो बैठा।

लेकिन मछलीके शिकारियोंका-सा धीरज मुझमें नहीं है। अब आए, अब आए—ऐसे कबतक घात लगाए बैठा जाय? मैं तो थकने लगा, और माट्टम नहीं, कब ऊँघ आगई।

"अरे, यहाँ तो आ।" आवाज़ पड़ी, तो मैं जागा। मैं चुप रहा। माट्टम पड़े, जैसे काममें व्यस्त हूँ।

"यहाँ आ रे!—जल्दी।"

मुझे छुट्टी नहीं है, इस भावसे मैंने कहा—"क्या है ?"

"यहाँ आ, यहाँ आ—आ तो।"

"आया" कहकर थोड़ी देर लगाई। आँखें ऐसी कीं, जैसे बड़े कामसे उठकर आई हैं, और मैं नीचे उतरकर आया।

देखा—घरकी सब औरतें और बाल-बच्चे और पड़ोसकी भी दो-चार, एक वृत्त बनाए, बीचमें किसीको घेरे खड़ी हैं। उत्सुकता हुई, उझककर देखा—सूरदास है। घरकी प्रभुताकी झोंकमें कहा—यह क्या तमाशा मचा रक्खा है ! मेरी माँ बोली—अरे, बैठ तो, देख—देख।

जो कुर्सी पेश की गई, उसपर बैठकर सूरदासको देखने लगा। अधेड़ आदमी है। ५० पर पहुँच रहा होगा। निपट अन्धा है। मारवाड़ी है। सिरपर चिथड़े हो रही पगड़ी है। रंग साँवलासा, मुँह बनावटमें ठीक, अच्छा है, ऐसा नहीं कि उबकाई लो। घुटनोंके कुछ ऊपर तक आई हुई धुएँ-सनी धोती है। हाथमें टेकनेकी लठिया है, पैरमें जबड़े निकालता हुआ जूता।

एकदम सब-के-सब उससे बोल रहे है। जिसकी आवाज़ सबसे ऊँची हो, उसीका कहा वह मानता है। एक लड़का चिल्लाया—"बाबा, बकरेकी........!" सूरदासने—"मैं—ऐं—ऐं—ऐं" करके सबको हँसाया। मैं घबराया—कहीं बकरा ही तो नहीं आगया !

"बाबा, बन्दर.... !" कहते देर नहीं हुई कि उसी लड़केपर बन्दर घुड़क पड़ा—"गुड़....र्र-र्र"। बच्चा सहम गया, फिर हँस पड़ा।

इसी तरह मोटर चलाई—प्याँग ! प्याँग ! हटो, हटो !—गधेको, मुर्ग़ेको बुलाया, और अपनेको खूब तंग होने दिया। लड़कोंकी एक बात न टाली; जो हुक्म हुआ, वही बात पूरी की।

फिर मेरी माँने कहा—सूरदास तेरी घरवाली कैसी थी ?

सूरदासका मुँह खिंच आया, आवाज़ भारी हो गई, जैसे अभी रो उठेगा।

" ओहो ! सुभाव बड़ा अच्छा, नैहर गई है, ऐसे बोलती है, जैसे बागोंमें कोयल बोले। मैं खाता—थोड़ा खाता; कहती—और ले और, दे ही देती। ओहो ! सुभाव बड़ा ही अच्छा था। कुछ हो जाता, यों ठुमुक ठुमुक रोती....। "

वह भी दोनों हाथोंसे दोनों आँखोंको मींजते हुए जैसे ठुमुक ठुमुक रोने लगा। हम सब खिलखिलाकर हँस पड़े। वह भी एकदम ठहाका मारकर हँस पड़ा।

मैं हृदयहीन नहीं हूँ। अपने हँसनेपर शर्माता, पर जब वही अपनी पूरी हँसीसे हँस बैठा, तो मैंने सोचा, यह अभिनय हँसनेके लिए ही है।

" कोई ठंढी-बासी, कोई लत्ता.......। "

" लत्ता देंगे, पहले....। " मेरी माँने कहा—और तब उसने कैसे उसकी घरवाली बाल धोती, मुल्तानी लगाती, चोटी करती, आटा गूँधती, उसके पैर दबाती आदि सबका अभिनय ऐसे सच्चे भावसे, मुँह बना-बना कर, ज्यों-का-त्यों कर दिया कि हँसते हँसते पेटमें बल पड़ गए।

फिर—" बाबा, कोई सूखी बासी....। "

कुछ रोटी दे दी गई, मेरे ट्रंकमेंसे, मेरे हुक्मसे एक फटी कमीज़ दे दी गई, और सूरदास असीस देता हुआ चला। मेरा लड़का लाठी पकड़े-पकड़े मकानसे बाहर उसे गलीमें अच्छी तरह पहुँचा आया।

फिर मैंने माँकी ओर मुखातिब होकर सबको सुनाते हुए कहा—" यह क्या तमाशा फैला लेती हो ? ऐसे लोगोंको क्यों अन्दर आने देती हो ?—भिखमंगे कहींके ! "

मेरा दिल पत्थर नहीं है; पर बात यह है कि घरकी डोर मेरे हाथमें हाल ही साल दो-एकसे आई है। और मुझे नई नई होनेके कारण, उस रस्सीको जब-तब ढीलने-तानने-खींचनेका शौक है। अधिकार-उपयोगमें बड़ा मीठा मज़ा होता है। लाटसाहबको लाटसाहबीमें, शाहको शाहगी-रीमें, और जमादार और सिपाहीको अपनी जमादारी और सिपाहीगीरी में जो मज़ा आता है, वही मुझे अपनी नई-नई घरकी प्रभुताका प्रद-र्शन करनेमें आता है। पर माँको मेरे इस प्रभुत्वका जरा भी खटका नहीं रहता। जब मैं तनता हूँ, तो वह ओठों-ओठोंमें जरा मुसकिरा पड़ती हैं।

माँने कहा—" अरे भाई, गरीब है, आजाता है, चलो, बच्चे हँस लेते हैं। अपना क्या जाता है—दो रोटी ही तो। फिर भइया, दीनोंकी असीस क्या सबको मिलती है?"

सो तो सब ठीक, पर मैं हार नहीं सकता। कहा—

" गरीब तो है, लेकिन........"

माँने कहा—" अच्छा-अच्छा। " और मुझे चुप हो जाना पड़ा।

उस रोज़ लिखना नहीं हुआ। सम्पादकजीको लिख दिया—अनव-काश है, जल्दी ही भेज दूँगा।

२

एक रोज वह अन्धा गलीमें फिर मिला। लड़कोंकी टोलियोंसे घिरा हुआ उन्हे हँसाता-खुश करता हुआ चल रहा था। एक लड़केने अपने घर चलनेका उसे निमन्त्रण दिया है, और वही उसकी लाठी पकड़े अपने घर ले जा रहा है। वहाँ वह वैसी ही बोलियाँ बोल देगा, मोटर चला देगा, अपनी घरवालीकी बातें सुनाकर उन्हें हँसा देगा,

और फिर दो-एक रूखी-सूखी जो पाएगा, ले आएगा। उसका यही व्यवसाय है, और वह इसीमें सुबह-शाम एक कर देता है।

वह गाता भी है। घर बैठे-बैठे एक दिन तान सुन पड़ी—"ऊधौ या जग कोई न मीत।" जैसे कोई अच्छे स्वर और अच्छी आवाज़से ही नहीं, अच्छे हृदयसे भी गा रहा हो। जानना चाहा, यह गानेवाला कौन है। मेरे बच्चेने आकर, ताली बजाकर, खबर दी—"बाबा है बाबूजी। बुड्ढा—बाबा—सूरदास!"

मेरा कुतूहल नहीं रुका—पहुँचा। पास ही मकानोंसे घिरा जो एक चौक है, उसके बीचोंबीच पलथी मारकर सूरदास आलाप रहा है। हाथकी लाठीसे कभी पत्थरकी फ़र्शपर ठनकार देता है, कभी हाथको जाँघपर मारकर ताल देता है।

"ऊधौ, या जग कोऊ न मीत।"

सूरदासकी आवाज़में मिठास है, लोच है, कँपकपी है। उसकी गूँजन जीको गस लेती है। लेकिन मैं ज्यादा ठहरा नहीं, लौट आया।

तबसे सूरदासका सामना होना मैं नहीं चाहता। देखकर कुछ सुख नहीं मिलता। घरमें भी कह दिया—"देखो, उस अंधेको जो देना हो, दे दो, पर घरमें ज्यादा बैठानेकी जरूरत नहीं।"

लेकिन मालूम होता है, जिन्दगीके आखिरी दिन तक कभी मेरा हुक्म माँपर नहीं चलेगा। एक रोज बाजारसे लौटा, देखता हूँ—वही जमघट जमा है। सूरदास नया गीत उड़ा लाया है और उसीको गुँजा रहा है। यह खड़-छन्दका गीत, क्या अचरज, उसीका बनाया हुआ हो।

"एकसे सावन भी और जेठ....।"

इस बुढ़ाईके तत्त्व-ज्ञानसे मैं बहुत चिढ़ता हूँ । यह ऐसे ऐसे भिख-मंगे ज़बरदस्ती हमसे दया छीन लेना चाहते हैं । इस तरह पिघलकर रुपया देना या दया देना समाज-तंत्रके किसी भी नियममें नहीं लिखा है—किसी तरह भी हमपर आयद नहीं है ।

बात यह है कि अंधेको देखकर जो असन्तोष उठता है, वह मेरे प्रभुत्व-दर्पके हाथमें पड़कर न-जाने किस मानसिक प्रतिक्रियासे रोष बन-कर बाहर निकलता है । मैंने उसपर रोष करना चाहा, पर उस अंधेने परमात्माके नीलाकाशमें, अपनी अंधी आँखें गाड़कर सुस्निग्ध कंठसे गाया—

"जेठ नाहिं सूखे, औ' सावन नाहिं बरसेउ—।"

व्यथित कंठसे निकला, बिना देखे परमात्माको निवेदन-रूपमें भेजा गया यह गान मेरे रोपके ऊपर फैल गया । इस अकिंचन सूरदासपर रोष कैसे उतरे ?

"सूरदास, गाना खतम करो, सुनो।"—मैंने कहा । वह रुका, एक झटके-से हँसा । शायद हँसीका झटका देकर वह अपनेको मेरी बात सुनने योग्य मनःस्थितिमें लाया । बोला—"हाँ, जी ।"

"इतनी सारी रोटी माँगकर तू रोज ले जाता है, सो क्या तू अकेला खाता है ?"

एक दिन मैंने उसे बकुचा-भर रोटी होनेपर भी माँगते देखा था ।

सूरदासने कहा—नहीं तो ! अपने लिए किस मुँहसे माँगूँगा !

तब मेरी माँने बताया—इसके दो लड़के हैं, एक लड़की है । एक लड़का कभी-कभी लाठी लेकर इसे राह बताता है । बड़ा स्कूलमें पढ़ने जाता है । बच्ची सबसे छोटी है, घर ही रहती है ।

"तेरा घर कहाँ है रे?"—मैंने पूछा।

"क्लाथ-मिलके पीछे कुलियोंके रहनेकी जगह है, वहीं एक कोठरी मेरी है।"

"मैं एक रोज आऊँगा।"

सूरदासने बिना संकोच कह दिया—"आना जी।"

मैंने देखा, वह मेरे आतिथ्यकी बात सोच रहा है। मैं समझ गया, वह सोच रहा है कि आतिथ्यमें कुछ भी उठा न रखूँगा। कैसा भिखारी है—अतिथाई करेगा! लेकिन देखा, एक-न-एक रोज़ इसका आतिथ्य पाना ही होगा।

३

आज दिन-भर बारिश हुई है। शाम होने आई, तब कहीं सूर्य दिखा है। बड़ी सुहावनी धूप मालूम होती है। बारिशके बाद धूप निकलनेपर जैसे चींटियोंकी लंगार-की-लंगार यहाँ-वहाँ, यहाँ-वहाँ दिखाई पड़ती है, वैसे ही छज्जेपरसे, घरोंमेंसे निकलकर आदमियोंकी क़तारों-की-क़तारें, चलती फिरती दिखाई देती हैं। लिखते—लिखते सिर भन्ना गया है। कहीं बाहर चलनेकी सूझी। सूरदासके घरकी याद आई। वक्त भी अच्छा है, अभी घर ही मिलेगा।

दइमारे लोगोंके मुहल्लेमें पूछते-जाँचते एक बन्द दरवाजेपर आ खड़ा हुआ। जिन्हें देवने ही मारा, उन्हें म्युनिसिपैलिटी भी क्यों न मारे! इस-लिए यह मुहल्ला म्युनिसिपैलिटीके सिरपर, रावणके सिरपर गधेके ताज़ जैसा, सजाने लायक़ बन गया है। गद्दों, कुर्सीयों, पंखों और न जाने किस-किससे सँवारे हुए म्युनिसिपल-हालमें—जहाँ कुछ छँटे-छँटे

आदमी पार्टियाँ और बहसें उड़ानेके लिए जमा हो जाते है—अगर इस मुहल्लेकी संडास, मोरियाँ, कूड़ेके ढेर, इस मुहल्लेका नरक ले जाकर पटक दिया जाय, तो बड़ा शिक्षाप्रद दृश्य बन जाय !

बन्द दरवाजेको खटखटाया । वह खुला नहीं, भीतरसे बन्द था । पासके एक कुलीसे मदद माँगी । उसने किवाड़पर थपकी देकर कहा—" विन्नो ! "

इसपर किवाड़ खुले । और, जिस विन्नोने किवाड़ खोले थे, वह मुझे देखते ही भीतर भाग गई ।

९ वर्ग फीटका कमरा होगा । हवाके लिए यही दरवाजा है, जिसमेंसे मैं घुसा । किवाड़ोंकी दरारें इस तरह सौभाग्य बन उठी हैं, क्योंकि किवाड़ बन्द होनेपर उन्हींसे हवा आती-जाती है । एक कोनेमें घड़ा रखा है, एक तसला लोहेका, जैसा जेलमें मिलता है, ऊपर ढँका है, एक थाली नीचे रखी है, पास ही एक शकोरा है । एक तरफ़ एक खटिया है, जिसके बान झूलकर धरतीको छूनेवाले ही हो रहे है । उसपर कुछ गूदड़ ढेर हो रही है । उसीसे एक दरजे उतरकर या चढ़कर नफ़ीस गूदड़ खाटके बराबरमें फैल रहा है । और कोई वर्णनीय बात इसमें नहीं है । २–१ लाठियाँ, कुछ हंडियाँ और २-१ पोटली-सोटली उस कीचड़के रंगके बिछौनेके पास रखी हैं ।

विन्नो इस बिछौनेपर ही आकर, आँख मींचकर, लेट गई है । मेरा-जैसा चश्मेवाला साफ़-सफ्फ़ाक़, बनाया-सँवारा आदमी महल छोड़-कर यहाँ आया है, तो ज़रूर कोई प्रलय होनेवाली है । कुछ ऐसे ही डरसे विन्नो यों दुबक रही है ।

" विन्नो ! "

देखा, यह साफ, सुपरिधानित किसी अपरलोकका जन्तु उसीकी बोलीमें उसका नाम ले रहा है, और आँखोंपर चढ़े चश्मेमेंसे उसकी ओर देख रहा है। उसे साहस हुआ।

" बिन्नो, डरती हो ? "

जिस लहजेसे यह कहा गया, उसने बिन्नोका सारा डर भगा दिया। वह आगे बढ़ आई, सामने खड़ी हो गई, बोली—" नहीं।"

उस वक्त वह सामने खड़ी लड़की बुरी नहीं माल्रम हुई। आँखें बड़ी बड़ी कटोरे-सी है, जो हिरनीकी तरह या तो निश्छल विश्वास और प्यारसे या डर और आशंकासे ही देखना जानती हैं। उमर ८ बरससे ऊपर होगी। रंग उज्ज्वल गेंहुआ है, पर उसपर मैलकी कलौंस लग रही है। दुबली है। टाँगोंमें छींटकी वँघरिया है और कमरपर बण्डीके नामपर कुछ चिथड़ियाँ। बदनपर खरौंच लग रही है, माल्रम होता है, बहुत खुजानेका परिणाम है। सिरके बाल चीकट सन सरीखे हो रहे हैं।

मैंने उसका हाथ पकड़ा, खटियाके गूदड़को जरा समतल किया और उसकी खटियापर बैठ गया। बिन्नोको गोदीमें ले लिया।

" बिन्नो, तेरा अन्धा बाप कहाँ है ? "

बिन्नो बड़े आरामसे गोदीमें बैठी है। यह सौभाग्य जैसे कभी उसे मिला था, अब तो सालोंसे नहीं मिला। वह जैसे अपना ही मुझे मानने लगी; बोली—

" अम्माके गये होंगे। "

" अम्माके ! कौन अम्मा ? कहाँ हैं ? "

" यहीं हैं। बाबा हर सातवीं शामको जाते हैं। "

" अभी तो बारिश थी। "

" कुछ हो, वह तो जाते हैं। "

इन सब बातोंको सुनकर मैं अचरजमें पड़ रहा था।

" अम्मा कहाँ रहती हैं, क्या करती हैं ? "

" सो नहीं जानती। पिछले वार गई थी। रहती हैं, और क्या करतीं—कुछ नहीं करतीं। खूब अच्छी अच्छी रहती हैं। अम्मा मेरी अच्छी रहती है। तुम्हारे जैसे कपड़े पहनती है, और रोती हैं। मैं गई, तो मुझे चिपटाकर बहुत रोईं। "

यह तो बड़ा अद्भुत संवाद सुना। मेरा औपन्यासिक कुतूहल पूर्ण वेगसे जाग उठा। पर मैं बहुत कुछ पूछ-पाछकर भी नहीं पता लगा सका कि अम्मा कौन हैं, क्या है, कहाँ रहती है, क्यों रहती है ? यही पता मिला कि अच्छी रहती हैं, सजकर रहती है।

इस अन्धेके इतिहासके चारों ओर जो भेदकी तह-की-तह लिपटी हुई है, उसमें एकको छेड़ा है, तो अब सबके भीतर तक पहुँचे बिना चैन नहीं मिलेगा।

एक कुलीको मैंने खाट लानेका हुक्म दिया। उस कुठरियाके बाहर खाटपर बैठ गया, और सूरदासके बारेमें जानकारी पानेकी टोहमें लगा।

पर लोग कुछ ज्यादा न बता सके। जो छोटा लड़का उसके साथ रहता है, उससे पता लग सकता है। वे खुद इतना ही जानते है कि रोटी माँग-माँगकर लाता है, और शामको आता है। रातको उन लोगों-को वह कभी गाना सुनाता है, कभी कहानियाँ। सबेरे उठते ही अपने चक्करपर चल देता है। बस दोपहरको एक बार लड़की बच्चोंकी खबर लेने आता है। वह जबसे जानते हैं तबसे यही नियम है। चाहे बीमारी हो, चाहे वर्षा; इसमें फर्क नहीं पड़ता। हाँ, इतवारकी शामको वह ज़रूर देरसे आता है।

इस सबसे मिला तो कुछ नहीं, उत्सुकता और बढ़ गई। तभी उसका सबसे बड़ा लड़का वहाँ आया।

सिरपर ज़रा पुरानी फैल्टकैप है, पैरोंमें कलकत्तेका स्लीपर। बहुत ज्यादा लटकते कालरोंकी कमीज़, और चौड़ा फैला पायजामा। बालोंमें तेल भी है, कढ़े भी हैं। १४ वर्षका होगा। ७ वें दरजेमें पढ़ता है। भरसक इसने अपने पिता सूरदाससे अपना जाहिरी सम्बन्ध बिल्कुल मिटा डालनेकी चेष्टा की है। सचमुच देखकर मेरी हिम्मत नहीं हुई कि इसे भिखारीकी सन्तान समझूँ। यह अपने बापके अस्तित्वपर शर्माने लगा है। अंधेकी कमाईका आधेसे ज्यादा भाग इसकी शिक्षा और शृंगारमें खर्च होता है।—लेकिन यह उसके लिए कृतज्ञताका पर्याप्त कारण नहीं है। कहीं और जगह होता, तो ऐसे रहता! वही लड़का गोविन्द मेरे सामने आया, और ठिठककर रह गया।

मैं उसके पसन्दका आदमी था; पर उसके घरपर ही बैठा हूँ, सब हाल जानता हूँ, इसलिए उसकी नापसन्दगीका भाजन बन गया।

मैंने पूछा—"भई तुम्हारे पिता...."

"मुझे नहीं मालूम।" बात काट कर ही उसने जवाब दे दिया।

मैंने प्यारसे उसकी पीठ थपकी, उसे ज़रा अकेलेमें ले गया।

"भई तुम्हारे पिता कहाँ हैं?—नहीं बताओगे?"

उसे सचमुचका संकोच था। कैसे कहे?

"तुम्हारी अम्मा....?"

गोविन्दने हाथ जोड़कर कहा—"बाबूजी, आप जानते हों कुछ, तो, हाथ जोड़ता हूँ, किसीसे कहिएगा नहीं।"

"भई, मैं जानता-वानता कुछ नहीं। जानना चाहता हूँ। बताओगे नहीं?"

" बाबूजी, हाथ जोड़ूँ, मत पूछो।"

" नहीं-नहीं, डरो मत। कोई बात नहीं। अच्छा जगह बता दो।"

" बाबूजी, देखो, किसीसे कहना नहीं। मेरी मौत हो जाय जो कहो। चावड़ी बाज़ारमें....। पर बाबूजी, माँ जो है सो है—बुरी नहीं है। हमें प्यार करती है।....हमारा ख़र्च....।"

लड़केको ज्यादा कष्ट देना ठीक न समझ, त्रिन्नोको कुछ दे, मैं चला आया।

४

जहाँ कभी नहीं गया, वहाँ गया। जो न करना था, किया। लेकिन उसका पता न चला सका।

इतवारको उस अंधेकी प्रतीक्षामें खड़ा हूँ। इस रास्ते न आया, तो अगले इतवारको दूसरे रास्तेपर इंतज़ार करूँगा। जो हो, उसके जीवन-की कम्बख्तीका हाल तो मालूम ही करना होगा।....लेकिन वह तो वह आ रहा है। मालूम होता है, यही उसका छोटा लड़का है,—वह जो थकानके भावसे लाठी पकड़े उसे लिये आ रहा है।

जहाँ नीचे दर्जेकी........रहती हैं, जिनमें मिट्टीका दीवट जलाया जाता है, वहाँ एक मैले-से ज़ीनेके आगे वह लड़का खड़ा हो गया।

सूरदास अब आगे होकर ज़ीनेपर चढ़ा। लड़केने अपने शरीरसे ज़ीनेको ढाँके रक्खा,—कोई देखे नहीं। फिर, देख-दाखकर, लड़का भी चढ़ गया। ज़ीना बन्द कर लिया। मैं वहाँ पहुँचा, थपथपाया।

ऊपरसे किसीने झाँका—" क्या आप ठहर सकते हैं ?"

मैंने कहा—" नहीं।"

यहाँ मेरे-जैसे लोग आते नहीं। मैं आ ही गया हूँ तो काफ़ी अच्छी कमाईका ज़रिया हो सकता हूँ। यहाँ वालियोंको पैसेकी उतने ही तंगी रहती है जितनी भिखारियोंको। इससे मना करते उससे बनता नहीं; हाँ करे तो कैसे ?

मैने ज़िद की, तो उसने जीना खोल दिया। जीनेके पास ही, कोठरीसे लगा हुआ एक छोटा-सा बरामदा था। कहा—" आप, यहाँ थोड़ी देर बैठें तो बड़ी मेहर्बानी हो। हाथ जोड़ती हूँ।"

मैंने कहा—" क्यों, कौन है ?"

" अजी, एक अंधा भिखारी है।"

" अंधा भिखारी !—क्यों, वह कौन है ?"

" अजी, आप नाराज़ न हों। आपकी नाराज़गीके लायक़ नहीं।"

" तो मैं भी कमरेमें ही बैठता हूँ। क्या कहती हो ?"

उसने ख़ुशीसे कहा " हाँ-हाँ "—फिर कहा—" लेकिन आप बोलें नहीं। अंधा फ़कीर है, मुझे राहपर लगाना चाहता है। उसका पुराना एहसान भी है। उसका कहा मानना पडता है। कुछ देखें, तो ताज्जुब न करें।"

कमरेमें एक पुराने स्टूलपर मै बैठ गया।

कमरेमें कोई ख़ास बात नहीं है। एक अच्छीसी खाट है, जिसपर सफ़ेद चादर बिछी है, २-१ तकिये पड़े हैं। वहाँ छोड़कर सफ़ेदी और कहीं नहीं। फ़र्शपर मैला टाट है। दो-एक मोढ़े हैं। एक राधा-किशनकी तस्वीर है, एक कलैंडर। एक लालटैन, दीवट, मिट्टीके कुछ खिलौने, काग़ज़के फूल, पानदान, सुराही और काँचका गिलास—ये चीज़ें और

भी टँगी या रक्खी हैं। सनी रेशमकी एक साड़ी चुनी हुई, एक झालरदार ब्लाऊज़—ये खूँटियोंपर टँगे हैं। इस अमीरीकी बनावटकी एक-एक बातमें ग़रीबी मानों फटी पड़ती है, और विलासका लिबास पहनकर दुःख मानों सिसक सिसककर रो रहा है।

वह सँवारी हुई, साधारणतः सुंदर है। ३२ वर्षकी अवस्था होगी, देह झुरती जा रही है; पर अब भी उसमें बहुत कुछ है। इस नारीके चेहरेपर, इस वातावरणमें भी, कुछ वह है जो समझ नहीं पड़ता, मानों यह यहाँ भूलसे आ पड़ी है, और भूलसे ही रह रही है।

उसने दिएको तेज़ कर दिया, मुझे भुला दिया, सूरदासका हाथ पकड़ा—"आओ।"

दोनों बराबर घुटनोंके बल बैठ गये। लड़का भी वैसे ही आ बैठा। सबने हाथ जोड़े, ऊपरको देखा।

तब स्तब्धता छा गई। घड़ियाँ सुन्न हो गईं। हवा ठैर गई, मानों अब आत्मा कहेगी—चुप हो जाओ।

सूरदासके कंठसे तब आत्म-ध्वनि निकली—"मालिक, हम बड़े पापी हैं। कितनोंको तुमने उबारा है। क्या हमें भी उबारोगे?—पर कैसे कहूँ? मालिक, तू सब जानता है, कोई बात तुझसे छिपी नहीं। क्या तू नहीं देखता? मालिक, हम दोनों बड़े गरीब हैं, तेरे ही बच्चे हैं; रोज़ भूला करते हैं, पर तुझे ज़रूर याद करते हैं। मालिक! हे मालिक मेरे! तू भी हमें भूलियो मत, नहीं तो हम कहींके नहीं रहेंगे।

"मालिक, रोटी मिलनेमें अब मुश्किल होती है। देह बूढ़ी हो चली। अब तेरे पास, तेरे चरणोंमें, आना चाहता हूँ। जल्दी चाहनेका हक़ नहीं है, तो भी मालिक, जल्दी करना, जल्दी ही उठा लेना।"

तब वह बोली—क्या देवी न कहूँ उसे?—

" तुम्हें मै नहीं जानती, मुझे तो धरतीपर यह मालिक मिला था । इसीकी मैंने अपने हाथोंसे आँखें फोड़ दीं । हाय ! पर यह कहता है, तभीसे मुझे सच्ची आँखें मिलीं । तभीसे इसने मुझे तुम्हें याद करना सिखाया । क्या तुम, सच, पापोंको माफ़ कर देते हो ?—ऐसे पापोंको भी ? मुझे भरोसा नहीं होता । पर यह कहता है, विश्वास करनेसे सब कुछ होता है । ओ, मेरे परमात्मा ! मुझे, कह दे, माफ़ कर दिया । मेरा अंधा तो सब कुछ माफ़ कर देता है, वह देखता तो है नहीं, बिना देखे माफ़ कर देता है । तुम देखते हुए कहो, माफ़ कर दिया । तब मेरे जीको ठंडक मिलेगी । नहीं तो वह ऐसा जलता है कि मै मरी जा रही हूँ । कहाँ बैठी हूँ—तुम देखते हो; मै भी देखती हूँ । मै यहाँसे उठ जाना चाहती हूँ । पर जितना जीना तुमने बाँध दिया है, उसमेंसे काट नहीं सकती । मुझे जल्दी उठा लो, यही चाहती हूँ ।"

दो मिनट तक फिर वे धरतीपर माथा टिकाये पड़े रहे ।—उठे,—गले मिले । स्त्री रो पड़ी । सिरपर थपकाते हुए अंधेने कहा—" घबरा नहीं, घबराते नहीं है । छिः, घबराते है ?"

वह चलने लगा, वह पैरमें पड़ गई—" मेरे मालिक ! "

" हें-हे, मालिक एक है—बस एक, मेरा भी, तुम्हारा भी, सारे जगत्‌का । बाकी सब ढकोसला है । उठ-उठ । "

हठात् विदा लेकर वह चल दिया ।

कई मिनट छज्जेपर खड़ी वह देखती रही । फिर लौटी, मुझे देख-कर चौंकी, और—और मेरे पैरोंमें पड़ गई ।

" मुझे माफ़ कीजिए । मैं....मै...."

मैंने १०) का नोट निकालकर दिया ।

" ओह, नहीं-नहीं । नहीं । मै मर जाऊँगी—नहीं लूँगी । "

मैंने कहा—"उठो," और उसे उठाया।

मैंने तब झुककर उसके पैरोंमें हाथ लगाया। वह पीछे हट गई।

"मुझे तुम क्या समझती हो?

"माफ़ कर दीजिए...."

"ये १०) तुम्हें रखने पड़ेंगे।"

हिचकिचाहट—संकोच।

"एक भक्तकी भेंट....।"

फिर भी वही।

"गोविन्दके...."

"क्या आप जानते हैं....?"

"कुछ नहीं। मैं धन्य हूँ अगर आप बतला सकें।"

"अपने पापोंको परमात्माके आगे गिन और गिना चुकी हूँ। उन्हें दुहरानेसे डरती नहीं। पर न पूँछें —"

"न कहिए। मैं ज़रा हठ न करूँगा।"

उन्होंने १०) ले लिये। मैं उनका मानसिक चरण-स्पर्श लेकर चला।

५

फिर वह घरपर बुलाया गया।

बच्चेने कहा—"बाबा, बन्दर बुला दे।"

उसने गुर्र-र्र कर दिया।

दूसरेने कहा—"गधा....!"

उसने मुँह ऊपर उठाकर रेंक दिया।

इसी तरह सबके बाद मेरी माँने कहा—"बाबा, तेरी घर-वाली—!"

उसने वही अभिनय किया। फिर उसी तरह ठहाका मारकर हँस दिया। फिर—

"माई, कोई लत्ता-टुकड़ा........"

मैंने कहा—"बाबा, हमारे यहाँ रहे तो कैसा? बच्चोंको मैं पढ़ा दूँगा। तू द्वारपर चौकसी करना।"

अंधेने कहा—"न-अ, जो भुगतना है सो तो भुगत डालना ही चाहिए। अब बचोगे तो फिर भुगतना होगा। भुगतना तो होगा ही, बच न सकोगे। इससे अपने साथ छल करना ठीक नहीं।"

इस सड़ियल फ़िलासफ़ीपर मैंने अपना माथा ठोका। फिर भी उस सूरदासको पुण्य-पुरुष ही माना।

मैंने कहा—"तेरी मर्ज़ी, पर शामको तेरे यहाँ आऊँगा।"

"बाबू, जरूर आना। हमारा कहाँ किसीको खिलानेका भाग?"

मैं अगले रोज़ पहुँचा, यहाँ-वहाँकी भीखकी थोड़ी रोटी खाकर अपनेको धन्य किया। लेकिन घर-वालीकी चर्चा नहीं छेड़ सका।

फिर भी मैं उस भेदसे घिरे इतिहासको जाननेको भूखा हूँ। आप लोगोंमेसे क्या कोई देवीके पाससे वह इतिहास ला सकता है? मेरी तो हिम्मत नहीं होती।



दिल्लीमें



१

प्रमोदने इसी साल वकालत शुरू की है, और इसी साल ब्याह किया है। अभी छः महीने नहीं हुए कि अदालतकी गर्मियों-की छुट्टी हो गई। प्रमोद पत्नी-सहित अपनी छुट्टियाँ मनाने चले।

शिमला जाएँगे—रास्तेमें दिल्ली भी पड़ गई। तब सोचा २-१ दिन दिल्लीको भी दे दें, कुछ हर्ज नहीं—करुणाने दिल्ली देखी नहीं है—यह काम भी निबट जायगा।

तो दिल्ली देखी गई—यही सब चीज़, और फिर चाँदनी-चौक। चाँदनी-चौकमें खूब ही घूमे, और सब बड़े बाज़ार भी देख लिए, पर जी कुछ भरा नहीं। सोचा, यह तो दिल्ली नहीं है, दिल्लीके बाज़ार हैं, जहाँ अमीरी तनकर अपना प्रदर्शन करती फिरती है, और जहाँ गरीबी अपनेको अमीरी बानेमें छिपाए शर्माए चलती है। ये तो बाज़ार है जहाँ सजावट होती है, बनावट होती है, और जहाँ मोल-तोल होता है। वह जगह तो देखी नहीं, जहाँ अमीरी सड़ती है और गरीबी सिकुड़ी पड़ी रहती है!—वह गलियाँ, जो सपाट चिकनी नहीं है, जो सँकरी और टेढ़ी-मेढ़ी हैं, जैसे शरीरकी रक्तवाहिनी नसें। वह गलियाँ, जिनमें दिल्लीका रक्त, दिल्लीका इतिहास, दिल्लीकी वास्तविकता और दिल्लीका अंधेर निवास करता है।

अगले दिन प्रमोदने अकेले गलियोंमें सैर करनेकी सोची।

सवेरा है। सूरज निकलनेमें देर है—झुटपुटा चाँदना हो चला है। तभी घरसे निकले।

राहमें झाड़ू देते मेहतर मिले, और जमना जाते स्नानार्थी। इन स्नानार्थियोंमें पुरुषोंसे स्त्रियोंकी तादाद चौगुनी होगी। स्त्रियोंको पुरुषोंसे पुण्यकी चिन्ता भी चौगुनी है।

तब वह एक गलीमें जानेको मुड़ गए। जहाँ चौरस्ता मिला, वहाँ सबसे तंग रास्तेको पकड़ लिया; जहाँ दो रास्ते मिले, वहीं जो सँकरा था, उसपर चल दिए। इस तरह भीड़-पर-भीड़, मोड़-पर-मोड़—और तब एक गलीमें पहुँचे। मुश्किलसे बराबर-बराबर दो-दो आदमियोंके जानेकी जगह होगी। दोनों ओर तीन-चार-पाँच मंज़िलोंके मकान सटे हुए खड़े हैं, जिन्होंने शर्त लगा रक्खी है, यहाँ न धूपको आने देंगे और न हवाको। इसी गलीमें चल रहे हैं कि फिर एक मोड़ आया। मुड़े—यह क्या?

जैसी तारोंकी काग़ज़ रखनेकी लंबी टोकरी-सी होती है, वैसी-ही एक यहाँ रक्खी है। गुदगुदे गदेले बिछे हैं, नन्हें-नन्हें दो-तीन-चार तकिए इधर उधर रक्खे हैं, और इन सबके बीचमें है छोटा-सा बच्चा!

बच्चा बिलकुल नन्हा-सा है। लाल-लाल कोंपल-सी पलकें हैं, आँखें, दिवले-सी, आस्मानमें मानो परमात्माको पहचान रही हैं, और हाथ आर पैर, कैसे रुईसे मुलायम, घूम-घूमकर हिल-हिलकर और मचल-मचलकर उस परमात्माको खेलनेको बुला रहे हैं।

प्रमोद झुका—हैं, एक काग़ज़ है—सिरा उसका तकिएके नीचे दबा है—लिखा है—"लो, ले लो, भगवान् सब देखता है।" प्रमोदने बच्चेको लिया, दुबका लिया, टोकरी वहीं छोड़ी और लौट चला।

अभी मुड़कर चला ही कि ये फूल उसपर किसने बरसा दिए? ऊपर देखा—कोई नहीं!

रास्तेमें एक सिपाहीकी शककी निगाह पड़ गई । इनका चलना ही ऐसा था कि शक न हो, तो अचरज है। टोका गया—इन्होंने झिड़कियाँ सुना दीं । उसने धमकीसे काम लेना चाहा । इन्होंने सुना अनसुना कर दिया ।

तब वह तैश खाता हुआ औरको लेने चला । भरोसा था, धमकीके बाद, यह भाग न सकेगा । लेकिन प्रमोद क्यों ठहरता ? घर आया ।

२

" लो "

" कहाँसे ले आए ? "

" पड़ा मिल गया ।"

" नहीं जी ! यह सदा ठठोली ! कुछ बात हुई ?—ठीक बताओ। "

" कहता तो हूँ—पड़ा मिल गया । "

" नहीं—नहीं—नहीं, सच बताओ, किसका है ! कैसा अच्छा है ! कौन मा है जिसने ऐसा नन्हा-सा बच्चा दे दिया ? सच बताओ किसका है ?

" सीधा परमात्माके हाथोंमेंसे छीनकर लिए आ रहा हूँ—शायद मौतके हाथोंमेंसे । माळूम नहीं किसका है । "

तब प्रमोदने सब हाल कह सुनाया । करुणा घबड़ाई—

" फिर ? "

" फिर क्या ? इसे पालो । "

" पालूँ ? कौन जाने किसका हो !"

" किसीका भी हो, है तो बच्चा । अभी तो कहती थीं, कैसा अच्छा लगता है । "

" अच्छा लगता है, तो ढेढ़-चमार किसीका भी बालक ले लें ?"

" ले भी लें तो फिर क्या होगा ? फिर यह तो किसीका भी नहीं—धरती माताका है ।"

मातृत्व किस स्त्रीमें नहीं है ? पर, इसपर धर्मका और जड़ताका आवरण चढ़ जाता है । करुणाकी इन आपत्तियोंमेंसे उसका मातृत्व झाँक-झाँककर देख रहा है—कैसा छौना-सा है, कैसा प्यारा ! प्रमोद-का कहना जहाँ शिथिल पड़ा, और यह धर्म ज़रा पिघला कि वह झटसे बच्चेको छातीसे लगाकर सुला लेगी ।

बोली—" है तो—लेकिन...."

लेकिनके बाद तुरंत कहनेको शब्दोंकी कमी हो गई ।

" लेकिन, यह तुम्हारे आसरे आ पड़ा है, करुणा । पालोगी तो जी जायगा, नहीं तो वहीं कहीं फिर छोड़ आना पड़ेगा । "

करुणा पालेगी क्यों नहीं ? ज़रूर पालेगी । पर प्रमोदकी बात ऐसी जल्दीसे नहीं मान लेगी ।

" कैसे करके पालूँगी ? लोग क्या कहेंगे ? "

" लोग जो भावेगा, कहेंगे । जैसा उनमें शऊर होगा, वैसा ही कहेंगे । और पालोगी कैसे ? अपना करके पालोगी । यह थोड़े ही कहोगी, दूसरेका है । "

" वाह !"

" वाह क्या ?"

" अभी ब्याहको कितने दिन हुए हैं ?—" करुणाने कहा, और उसने अपना अँगूठा धरतीमें गाड़ लिया, ओठ चबा लिए, आँखें झँपा लीं, और एकदम झेंपी भी और खिझलाई भी, लजाई भी और....और लल-चाई भी !

" ओह, सो बात! कुछ नहीं "—प्रमोदने हँसकर कहा।

" लोग........"

" लोग मुझे ही तो कहेंगे, तुम्हें क्या कहेंगे!"

इस पैनी हँसीपर प्रमोदके हाथको झटका मिला, और कानोंको मिला—" चलो-हटो!"

" करुणा, हमें या तुम्हें कुछ कहकर लोग अपनेको बहला लें, तो इसमें अपना क्या हर्ज? कहने दो, जो कहें, पर हम तो एक दूसरेको जानते हैं।"

" मेरा तो मरण हो जायगा।"

" मरण-वरन कुछ नहीं। बड़ा पुण्य होगा। लोग कह-कहकर खुश होंगे। हम भी सुन-सुनकर खुश होंगे। क्यों, होंगे न? जरूर होंगे। और इस बातपर खुश होंगे कि देखो हमारे कारण इन्हें कैसी खुशी होती है!"

करुणा खुश क्यों नहीं होगी? जब पतिका विश्वास और पतिका प्रेम उसपर है, तो किस बातसे वह खुश नहीं हो सकती?

इधर ये बातें चल रही थीं, उधर नीचे आँगनमें रधिया माजीसे बातें करनेमें लगी थी।

आते ही विना भूमिकाके रधियाने कहा—" माजी, मुझपर बड़ी विपत है। बड़ा कलेस है। कोई नौकरी हो तो—माजी।"

यह सीधे अपरिचित घरमें घुसकर नौकरी माँगनेकी प्रणालीसे माजीका पहला परिचय था।

" मेरे यहाँ तो कोई जगह नहीं है।"

"मैं बाहर कहीं चली जाऊँगी। कोई आया-गया हो, जिसे रोटीवाली-

की या और किसी तरहके कामकी ज़रूरत हो—मैं चली जाऊँगी। कोई भी तुम्हारे यहाँ आया गया।"

"कौन आया-गया? फिर कौन तुझे बेबूझे रक्खेगा?"

"नहीं, माजी, मैं तसदीक दिलवा दूँगी। देखो माजी........"

"एक आया तो है। मेरे लल्लूके साथका पढ़नेवाला है। कह देखूँगी—उसे।"

"कौन हैं—कौन हैं—माजी। ज़रूर कहना माजी। कहाँके हैं?"

"कानपुरका है। लड़केके साथ पढ़ा है, वकील है।"

"क्या नाम........"

"नाम तो जानती नहीं...."

"अच्छा माजी, ज़रूर कहना। देखो....। मैं कल आऊँगी।"—कहकर रधिया चली गई।

थोड़ी देर बाद एक लाल साफ़ेका लट्ठबंद सिपाही आ खड़ा हुआ।

"तुम्हारे यहाँ कौन आया है?"

"कोई नहीं...."

"नहीं, ज़रूर कोई आया है........"

"आया है सो?"

"कहाँसे आया, कौन है?"

"और तू कौन है जो आया है पूछने?"

"अपने आप बताओगी।"—धमकी देकर वह चलता बना।

तब पति-पत्निके संभाषणमें व्यवधान डालकर माजीने सूचना दी।

"लल्लू, तुझे पूछता एक सिपाही आया था। एक महरिया भी

नौकरी पूछती आई थी। पता लगता है, वह भी तेरी ही खोज-ख़बरमें थी।"

"होंगे कोई, माजी। कुछ बात नहीं।"—बड़े करारेपनसे कह-कर वह हँस दिया। माजी चली गई।

लेकिन करारेपनसे क्या और हँसीसे क्या? क्योंकि तभी उन्होंने आज ही शिमला चल देनेकी बात सोचनी आरंभ कर दी। सिपाही और उस स्त्री—दोनोंहीकी बातने कुछ हौल-सा जीमें पैदा कर दिया।

"क्या होगा?"—करुणाने पूछा।

"कुछ नहीं—होगा क्या?"—हँसकर प्रमोदने जवाब दे दिया। रधियाने आकर मालकिनको ख़बर दी—

३

"कानपुरसे आए हैं। कोई वकील हैं..."

"नाम?........"—नई उमरकी मालकिनने व्यग्रतासे पूछा।

"नामका पता तो नहीं लग सका।"

"कहाँ ठहरे हैं?"

रधियाने पता बता दिया।

अगले रोज़ सबेरे उस मकानपर एक मोटर आ लगी। रधिया मकानमें गई।

"माजी, वह बाबू........"

"वह तो कल ही गया........"

"गये?—कहाँ?"

"इससे तुझे क्या?"

" अजी, मैं गरीबिनी हूँ । चिट्ठी डालकर पूछूँगी—नौकरीको । बुला लिया तो अच्छा ही है । "

" शिमला गया है । पता नहीं मालूम । "

तभी नौकरने ख़बर दी—

" माजी, बाहर एक मोटर खड़ी है । "

रधिया सुनकर भाग खड़ी हुई । कोई देखने बाहर गया, उसके पहले ही रधियाको लेकर मोटर भाग चुकी थी ।

वह नई उमरकी मालकिन, रधियाके साथ, अपने पिताको मना-मनूकर शिमला जानेके लिए लाचार करके, शिमला पहुँची । वहाँ ढूँढ़ा, पर कानपुरके वकीलको न पा सकी ।

दिल्ली लौट आई, पर उसको चैन न मिल सकी । दिल्लीमें वकीलके ठहरनेकी जगहसे बहुत कुछ मालूम करनेका प्रयत्न किया गया, पर वहाँसे ज्यादा कुछ नहीं बतलाया गया ।

एक रोज़ सेठ धनबढ़रायको ख़बर दी गई, उनकी लड़की लापता है । बहुत कुछ खोज-छान की, पर उसका पता न चला । तब वह खोज ढीली पड़ गई । लेकिन धनबढ़राय फिर भी भीतर-ही-भीतर ढीले न रहे । उस लड़कीने भागकर उनके नामपर कीचड़ डाली, सेठजी उसे इसका बदला चुकाएँगे ।

४

कचहरी खुल गई और कानपुर आकर प्रमोद अपनी वकालतमें लगा । ब्याहके आठवें महीने ही जब बहूकी गोदमें दो महीनेका बच्चा है, तो प्रमोदको चैनसे कैसे वकालत करने दी जा सकती है ? यार-दोस्तोंने चुहलबाज़ीमें और रिश्तेदारोंने धीर-गंभीरतासे, दस तरहकी दस

बातें कहनी शुरू कीं। पर प्रमोद सुनता है और झेल लेता है, और करुणाको आकर सुना देता है। करुणा लजा जाती है। यथा—

प्रमोदने कहा—" लोग कहते हैं, इस बच्चेके लिए मुझे कुछ मेहनत नहीं करनी पड़ी। उनकी यह बात गलत तो नहीं है। "

करुणा इसपर सिंदूरिया पड़कर हलकी-सी 'सी सी' कर देती है। लेकिन बच्चेपर मा-बाप दोनों ही खूब लाड़ बरसाते हैं। लोग इस बातको देखकर बड़े अचरजमें हैं। बहुत कुढ़ते हैं, पर प्रमोद कह देता है—"तो फिर बच्चेका क्या कुसूर ? मान लिया मेरा नहीं है, तो ?—बच्चा तो बच्चा ही है।" इस अद्भुत उत्तरके आगे किसीका कुछ वश नहीं चलता, और वे प्रमोदको 'असुधार्य' मूर्ख समझकर छोड़ देते हैं।

बच्चेका नाम रक्खा गया है—पृथ्वीचंद ! कैसा धरतीपर चाँद-सरीखा उगता-खिलता पड़ा मिला था वह! पृथ्वीचंद चंद्र सरीखा ही बढ़ रहा है। करुणा अब उसके लिए नौकरनीकी जरूरत समझ रही है। अब उसके कामोंमें वह अड़चन डालने लगा है।

ऐसे-ही वक्त संयोगवश एक फटी-बेहाल औरत आ पहुँची।

"बहूजी, नौकरी कुछ मिल जाय। बड़ा पुन्न होगा। मैं बच्चेको खिला लूँगी —ज़रा नहीं रोने दूँगी। और रोटी-कपड़ेपर तुम्हारे यहाँ पड़ी रहूँगी। और कुछ नहीं चाहिए। बहूजी, मैं बड़ी विपतमें हूँ।....बड़ा पुन्न होगा—बड़ी असीस दूँगी।"

" सोच तो रही हूँ मैं एकको रखनेकी। तू बच्चा रख लेगी ?—है कौन जात ?"

" बनैनी हूँ माजी, अग्रवाल। करमका दोष है। बच्चेको खूब रख लूँगी—खूब रख लूँगी—देख लेना तुम माजी। "

" तुझे कोई जानता भी है ? "

" जानता तो कौन मुझे माजी ! गरीबिनी हूँ, विपदाकी मारी हूँ। तुम्हारा नेक बिगार हो जाय, मेरा जो चाहे कर लेना। माजी, कुछ हो, ऐसी-वैसी तो हूँ नहीं।

इसी वक्त भीतरसे पृथ्वीचंदने चीख मारी। करुणा दौड़ी गई—पुकारती मनाती गोदीमें उठा लाई।

उस स्त्रीकी आँखें बच्चेपरसे फिर डिग नहीं सकीं। बोली—" कैसा चाँद-सा बच्चा है। कितनेका होगा, बहूजी ? "

" होगा कोई छः-सात महीनेका।"

' देखूँ माजी '—कहकर उसने करुणाके हाथसे बच्चेको ले लिया। लेकर उसपर हँसी, रोई, चूमा, पुचकारा, उछाला, बिठाया और फिर छातीसे चिपटाकर आँगनमें डोलने लगी, कहती जाती थी—' आ री चिड़िया आ जा री, चंदा चिड़िया ला जा री।'

करुणाने देखा, बच्चा मन गया है, और सोता जाता है। और यह स्त्री बड़े प्यारसे बच्चेको खिलाती है। पूछा—" तेरा नाम क्या है ? "

" नाम—?"

" हाँ।"

" नाम मेरा माजी है....पतिया, पतिया। "

" तो तू रहेगी पतिया ? "

" हाँ, रहूँगी, जरूर रहूँगी, माजी। तुम्हारे हाथ जोडूँ....मैं इस बच्चेको खूब अच्छा खिलाऊँगी। देख लेना, माजी। मैं कहीं नहीं जानेकी, बिगाड़ करूँ, निकाल देना। "

" अच्छा तो कल आना, मैं उनसे पूछ लूँगी। "

"मुझे, जी, यहीं पड़ जाने दो। कोई कोना दे देना, पड़ रहूँगी। कल उनसे पूछ लेना।"

"कल आ जाना। सब ठीक हो जायगा। आज तो...।"

"मैं नहीं जाऊँगी। यों ही पड़ी रहूँगी। बच्चेको साथ लेकर पड़ी रहूँगी—तुम्हें दुःख नहीं पहुँचाऊँगी।"

इस हठपूर्ण अनुनयको करुणा किसी तरकीबसे टाल न सकी।

बोली—"अच्छा। पर नौकरी कलसे ही....।"

"हाँ-हाँ, जबसे चाहो"—उसने सहर्ष स्वीकृतिसे कह दिया।

अगले दिन करुणाने प्रमोदसे पूछा। उसने कह दिया—

"क्यों नहीं? मुझसे पूछनेकी इसमें क्या बात थी; जरूर रख लो, जरूर रख लो।"

"जान-पूछ तो की नहीं—"

"यही जान-पूछ बहुत है कि बच्चेको प्यारसे रख सकती है। लेनेको अपनेसे क्या ले जायगी—एक-आध कपड़ा-लत्ता—बस।"

पतिया उस रोज़से पृथ्वीचंदको खिलानेपर, खाने और कपड़ेपर, नियुक्त हो गई।

५

लेकिन देखा गया, पतिया बच्चेको लाड़ करने, पुचकारने, खिलाने और बनाने-सँवारनेसे संतुष्ट नहीं है, वह मानों और भी कुछ ज्यादा चाहती है। वह मानों उसपर अपना संपूर्ण आधिपत्य चाहती है, जिसमें किसीका साझा न हो। पृथ्वीचंद करुणाके पास जाता है, या करुणा जब उसे लेती है, तो मानों यह उसे अच्छा नहीं लगता। जी होता

है—इससे छीन लूँ, कह दूँ—नहीं देते। उस करुणाका जो उस बच्चे-पर अधिकार है, और खुद पतियाका जो नहीं है—इसपर उसका मन न-जाने कैसा अकुलाया-सा रहता है। मनको वह बहुत बोध देती है, पर उसका यह मन जैसे इस मामलेमें बाग़ी हो जाता है। उसे करुणा-का यह अधिकार सह्य नहीं होता। इस अधिकारके ही कारण करुणा-का बच्चेपर प्यार करना भी उसे बड़ा कड़वा लगता है। वह मानों उससे बच्चेकी रक्षा करना चाहती है। वह बच्चेको करुणासे प्यार पानेका अवसर, भरसक, बहुत कम देती है।

करुणा पतियाके इस स्नेहकी अतिशयतासे भरे व्यवहारको देखकर और पिघल गई। उसने समझा, पतिया कोई अपना बच्चा खो बैठी है और जब उसकी छाती मातृ-स्नेह और मातृ-दुग्धसे खूब भरी है, तभी वह यह नौकरी करनेपर लाचार हुई है, और तभी यह पृथ्वीचंद उसके सामने आया है। वह इस दुखियाके प्रति सम-स्नेह और करुण-सहानु-भूतिके भावसे खिंचने लगी। मांके हृदयने माका हृदय पहचाना; और जो हृदय अपने टुकड़ेको खोकर, क्षत-विक्षत हो रहा है, उस हृदयके लिए माता करुणाने अपने भीतरका करुणाका निसर्ग-स्रोत खोल दिया। वह पृथ्वीचंदको ज्यादासे-ज्यादा काल तक उसके पास रहने देने लगी—खुद बहुत कम मिलकर ही संतोष मान लेती।

लेकिन पतियाके व्यथित हृदयपर यह सहानुभूति जलन छिड़कने लगी; क्योंकि करुणाका हक़ है—हक़ है! उसका हक़ नहीं है। वह मानों छलसे, चोरीसे, दूसरेके अनुग्रहपर, इस बच्चेसे प्यार कर पाती है और उसपर करुणाका अधिकार है! यह अधिकारकी बात ही करुणाकी सहानुभूतिको मानों खट्टा बना देती है। उसकी ठंढी सांत्वना मानों और जलन भड़का देती है।

६

दिन बीतते रहे, और पाँच साल निकल गये। पृथ्वीचंद अब गिल्ली-डंडेसे खेलता है। पतियाको चिढ़ाता और मारता है, करुणाका भी बहुत अदब नहीं करता, सिर्फ़ बाबूजीको डरता है।

लेकिन करुणा उसकी अम्मा है—पतिया पतिया है। फिर भी पतिया उसे खूब चीजें देती है, चाहे चुराकर ही क्यों न दे। करुणा ज्यादेतर उसे डपटनेका काम करती है। वास्तवमें बात यह है कि वह पतियाको इसीलिए मार पाता है; क्योंकि उसे वह ज्यादा प्यार करता है।

पतिया अब फटे-टूटे हालमें नहीं रहती, मानों घरका वह अब अंश है। उसकी बात मानी जाती है, और वह अब ख़र्चके बारेमें भी बहुत आज़ाद है। पर पैसे और प्यारके ख़र्चके लिए पतियाके पास एक ही मद्द है—पृथ्वीचंद।

किन्तु करुणा अब ज़िम्मेदारीका अनुभव करने लगी है। हमारे बच्चे-को यहाँ बैठना चाहिए, वहाँ नहीं। ऐसे रहना चाहिए, वैसे नहीं। उसे ज़िन्दगीमें यह बनना है। करुणा उसके भविष्यका चित्र बहुत उज्ज्वल खींचती है। विश्वास है, उसका पृथ्वीचंद माको सुखी करेगा। ऐसे ही चमत्कारपूर्ण भविष्यमें विश्वास रखकर, करुणा पृथ्वीचंदको समय-समयपर उपदेश दिया करती है। एक दिन उससे कहा गया—

"देख पृथ्वी, पतियाके पास ज्यादा मत बैठा कर। अब तू बच्चा नहीं रह गया है। देखा कर, कहाँ बैठना, कहाँ न बैठना।" करुणा अपने उन भविष्य-स्वप्नोंमें इतनी आत्मसात् हो गई है कि समझती है, पाँच बरसका लड़का बच्चा नहीं है। अब उसे कौन समझाएगा? समझानेसे तो वह न समझती; पर अगर जानती कि उसकी यह बात पतिया सुन रही है, तो वह कभी ऐसा न कहती।

पतियाने सुना, अपने-आप कहा—हूँ। कुछ दिनों बाद एक दिन पतिया और पृथ्वीचंद लापता हो गए।

७

सेठ धनबढ़रायने अपनी लड़कीको बहुतेरा ढूँढ़ा, और वकील प्रमोद-चंदने अपने पृथ्वीचंदको बहुतेरा ढूँढ़ा—पर कोई न मिला। आखिर लड़कीको खोए सात साल हो गये थे तब, और लड़केको खोए लगभग दो साल हो गये थे तब, दोनों एक ही क्षणमें एक ही जगह मिले। किन्तु एक दुर्घटना हो गई। इस कारण वे दोनों मिले, फिर भी कोई न मिला—मिले तो एक दूसरेसे सेठ धनबढ़राय और वकील प्रमोदचंद मिले, और दोनोंने अपना माथा ठोक लिया।

बात यों हुई—

काशीमें ज़बर्दस्त मेला था। दशाश्वमेध घाट भीड़से खचाखच भरा था। मेलेमें करुणाके साथ प्रमोदचन्द भी गये थे और सेठानीके साथ धनबढ़राय भी। दोनों उस समय गंगा-स्नानको वहाँ आए थे। प्रमोद-चन्दने दशाश्वमेध मंदिरके दाईं ओर, ज़रा दूर स्नान किया, सेठजीने बाईं ओर। जब स्नान करके ये लोग चले—करुणा और प्रमोद, सेठानी और धनबढ़राय—ऊपरकी सीढ़ियोंके पास, जहाँसे सड़क दिखने लगती है—उन्होंने देखा एक गैरिक-वस्त्र-धारिणी तपस्विनी-सी कोई ७ बरस-का बालक साथ लिये बैठी यात्रियोंकी खैर मना रही है, और पैसे माँग रही है। उसकी भी आँख उठी—देखा—ये क्या—कौन? करुणा और वकील आ रहे हैं! वह घबड़ाई, उठी, बालककी उँगली पकड़ी। अब दूसरी ओरको भाग जायगी। पीछेको मुड़ी—हाय! पिता और माता! वह सब कुछ भूल गई, मानों विक्षिप्त हो गई हो—खो गई हो।

वह उतरकर सामनेको भाग चली—उँगली पकड़े, बालकको साथ खदेड़ती जाती थी। सेठ और वकीलने पीछा किया। लोगोंने भी हल्ला मचाया, पर कोई पास पहुँच न सका; क्योंकि उसने लड़केको गंगामें फेंक दिया—और पलभरमें आप भी छलाँग मार गई। बरसातकी गंगा ज़ोरोंपर थी, कोई बचा न सका। उन दोनों प्राणियोंको, यह मा गंगा ही अपने पेटमें आत्मसात् कर गई।

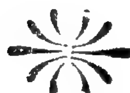
दोनोंके चेहरे फक रह गए। वकीलने सेठसे पूछा, "यह आपकी कौन थी?"

"बेटी"

सेठने वकीलसे पूछा—"वह आपका कौन था?"

"बेटा"

दोनोंने पूरी बात समझ ली और अपना माथा ठोक लिया।



आतिथ्य

-x-

१

उनका घर भी दिल्लीमें है, पर जान-पहचान हुई यहाँ इतनी दूर आकर। वे भी फ़र्स्ट ईयरमें दाख़िल हुए हैं, मैं भी। विषय भी एक ही है—दोनोंके पास साइंस। होस्टलमें कमरे भी पास पास हैं। हमारी जान-पहचान खूब गहरी होने लगी। धीरे धीरे स्थानका नयापन भी दूर हो गया और हम होस्टलकी ज़िन्दगीमें मिल गये। अभी तक थे तो होस्टलमें ही, पर कुछ बेसुरे-से लगते थे।

मेरे मित्र पैसे और दिलसे अच्छे हैं। खुले हाथ ख़र्च करते हैं। हाँ, ज़रा पढ़नेमें थोड़ा कुछ....। बड़े कमरेमें रहते हैं, थ्रीसीटेड हैं वह, और इसलिए तिगुना किराया भुगताते हैं। उनके साथ उस कमरेमें ही उनका एक नौकर और एक रसोइया रहता है।

थोड़े दिन बीते कि उनके चारों ओर एक मण्डली जुट गई। या यह कहें कि उनके रसोइयेके चारों ओर एक मण्डली जुट गई। कुछ मित्रोंने मुफ़्तके महाराज, मुफ्तके नौकर और मुफ़्तके श्रीमान्को पाकर एक नया मेस खड़ा कर लिया है। मैं भी उस मेसहीमें भोजन पाता हूँ।

मित्रका नौकर सबका नौकर है, और महाराजपर भी सभी हुक्म चढ़ा देते हैं—मित्र इससे बड़े प्रसन्न हैं। वास्तवमें वे बहुत ही भले आदमी हैं। पन्द्रहवें रोज़ पिक-निक पार्टी की जाती है, और उसका भार भी बिना कहे-सुने वही उठाते है, मानो उन्हें मालूम भी नहीं होता।

यह पिक-निककी सूझ भी उन्होंने ही सुझाई है, नहीं तो यहाँ किसको पड़ी है और किसके पास पैसा है।

मित्र इस तरह खूब प्रिय और खूब परिचित हो गये हैं। मेरी उनकी तो बात ही क्या, सभी मानो उनसे घनिष्ठ हो गये हैं और थोड़ा उनका भार और आभार उठानेको तैयार रहते हैं।

इसी तरह साल बीतते रहे। छुट्टीमें दिल्ली आते तो वहाँ भी साथ रहते, कालेजमें तो रहते ही। मुझे उनसे और तरहकी बिन माँगी कृपा मिलती ही थी, उनको भी मुझसे माँगी हुई पढ़ाईकी मदद मिल जाती थी। सारांश, हम बहुत अभिन्न हो गये।

२

आख़िर आँधी आ गई। कालेज टूट-टूटकर गिरने लगे और लड़के भागने लगे। तब मानो यह बड़ा-सा हिन्दुस्तान करवट ले रहा था, करवटके साथ करवट नहीं लोगे, तो मानो कहींके न रहोगे। गाँधीकी उस आँधीकी चपेटमें मैं भी आया, मेरा दिमाग़ मानो उड़ने लगा। मानो अभी आसमान-धरती एक कर दूँगा और भारतमाताकी परतन्त्रताकी बेड़ियोंको एक चोटमें कट-कटकर काट दूँगा। और इस तरह मैं अमर हो जाऊँगा।

कुछ आँधीकी झोंकमें, कुछ दिल दिमाग़की झोंकमें, कुछ समझकर और कुछ शर्माशर्मीमें मैं तो कालेज छोड़ बैठा—मित्र वहीं रहे।

अब मेरे लिए दो ही काम थे—देश-सेवा और भटकन। इस देशसेवामें कई बाँस लगाये, पर नाप नहीं सका कि देश कितने इंच आगे बढ़ा। आख़िर जब देश वहींका वहीं दीखा—बल्कि चाहे कुछ पिछड़ा हुआ—और सेवाका कुछ अन्त ही नज़र नहीं आया और न महत्त्व,

कुछ थकान होने लगी और मन और कुछ चाहने लगा। लोग भी मेरी देश-सेवाकी कम प्रशंसा करने लगे और उससे तंगसे दीखने लगे, और पिताकी चिट्ठियोंपर चिट्ठियाँ आईं और स्त्रीकी गड़बड़ खबरें, और घरकी बेपैसा हालत—क्षुब्ध मनसे देश-सेवा छोड़ देनी पड़ी। सोचा था, कुछ करके दिखाऊँगा और पुजूँगा, सो कुछ करके तो दिखा न सका, उल्टे पीठ दिखाकर भागना पड़ गया। घरपर आकर चुपचाप बैठ गया। पिता बीमार हैं, स्त्री भी ठीक नहीं है, और बच्चे यहाँसे वहाँ और वहाँ-से यहाँ और सब जगहसे फिर फिरकर चौकेमें घूम रहे हैं। चौकेमें कुछ बना नहीं, कौन बनाये और कैसे बनाये ?

इस पिता-स्त्रीकी बीमारी और बच्चोंके यों घूमनेका परिणाम यह हुआ कि मैं एक मिडिल स्कूलमें मास्टर हो गया। इस दवाने काम भी खूब किया। क्योंकि पिता चंगे हो गये, स्त्री भी ठीक रहने लगी, रोटी ठीक बनने और बच्चोंको मिलने लगी। ३५) की करामातको अब देखा। हज़ारों रुपए इकट्ठे किए हैं, और दे दिए हैं, रूखी रोटी भी खाई है और पैदल भी चला हूँ—पर पैसेका पूरा मूल्य और पूरी करामात अबसे पहले समझ-मे नहीं आई। देश-सेवामें ऐसी करामात नहीं नज़र आई। उसे ३५) में छोड़ देनेके लिए मै पछताता नहीं हूँ। अपनी देश-सेवासे मैं अभी तक एक भी रोगी नहीं अच्छा कर पाया हूँ, एकको भी खुश नहीं कर पाया हूँ, एकको भी नहीं अपना बना पाया हूँ, यहाँ तक कि अपनेको भी कुछ नहीं बना पाया हूँ। लेक्चरसे यह कुछ भी काम नहीं होता। इन ३५) ने अच्छा भी किया, खुश भी किया, लोग भी कुछ अपने बनते जा रहे हैं, और अपनेको भी समझता हूँ, बना रहा हूँ।

३

तो इसी मास्टरीके कालमें कोई ७ साल बाद एक रोज दिखाई दे गये वही कालेजवाले मित्र।

चाँदनी-चौकमें कुछ खरीद कर रहे हैं। हैट है और चमकते बूट हैं, पतलून बड़ी नफ़ीस है, कोट नाभिसे जरा नीचे तक आ गया है।

कालेजकी मेरी पढ़ाईकी सारी श्रेष्ठता रक्खी रही, और मैं झिझकता रहा। बोलूँ या न बोलूँ? बोलूँ कैसे बोलूँ—'सर' या और कुछ? इतनेमें ही उन्होंने मुझे देखा।

'ओ-हो, प्रसाद बाबू, तुम कहाँ! '—हाऊ-डू-यू-डू?'

मैंने गुनगुना दिया—"अच्छा हूँ—यहीं हूँ। कृपा है।"

वे निस्संकोच खुलकर बोले—खरीद भी होती जाती थी। एक हैट, कुछ ग्लव्ज़, और कुछ और चीज़ें जिनकी अँग्रेज़ी नहीं आती, खरीदी गई। तब फिर वे हाथ पकड़कर मुझे साथ ले चले। मुझे उनके बोलनेमें थोड़ी कहीं 'स्वामित्वकी' ध्वनि मालूम हुई—बाक़ी कुछ नहीं।

"कहो भाई, क्या करते हो?"

"मास्टरीसे पेट भरता हूँ।"

मेरा भी पुराना साहस लौट आया। फिर अच्छी तरह बातें होने लगीं।

पता लगा बी० एस-सी० के बाद वे इँग्लैंड चले गये थे। वहाँसे हालैंड डेनमार्क। उनका विषय गोरक्षा और गोवर्द्धन था। इस सम्बन्धमें वहाँ बड़ा काम हो रहा है। सब देखा। उसी ओरकी कोई डिग्री भी लाये है। गोसेवाकी ओर उनकी पहलेसे प्रवृत्ति है। वहाँ जाकर देखा कि इस सम्बन्धमें हिन्दुस्तानमें काफ़ी किया जा सकता है। यहाँ वहाँसे

भी ज्यादा सुविधायें हैं। उन देशोंमें ही जाकर हिन्दुस्तानकी इस संबंध-की परिस्थितिका अध्ययन किया। ताज़े नये वैज्ञानिक तरीके उपयोगमें लाये जायँ, तो यहाँ गोवंश खूब बढ़ाया और उन्नत किया जा सकता है। लेकिन इस ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। भारत कृषि-प्रधान देश है। गोवंशपर उसका आधार है। इसलिए गो-सेवाके प्रश्नमें ही उसका लाभ है। भारतकी स्वतन्त्रता भी उसी प्रश्नमें संश्लिष्ट है। खेद है कि नेता इस ओर ठीक ध्यान नहीं देते। उनका यही काम होगा कि इस प्रश्नके महत्वको प्रकट करें। वे एक गोशाला (डेयरी) खोलने जा रहे हैं। बिलकुल आधुनिक तरीकेपर। उससे दूध शुद्ध मिलेगा, और गोवंश-की रक्षा और उन्नतिके सब उपाय काममें लाये जायँगे। गोवंश कैसा क्षीण होता जा रहा है, और भारत सो रहा है—धिक्कार है !

इस सबका आशय समझ मैंने अश्वासन दे दिया—डेयरी खोलिए। सेरभर दूध रोज तो मैं ले लिया करूँगा, अपने मित्रोंसे भी कहूँगा।

उन्होंने भी देखा, उनका निष्काम लेक्चर व्यर्थ नहीं गया।

तब और और बातें हुईं। अभी—१५।२० दिन हुए—ही लौटे हैं। बड़ा खर्च पड़ता है। पाँच सालमें १२ हजार। परदेश बड़े अच्छे हैं, जी होता था, वहीं रहने लगूँ। सोचा भी। पर देखा, भारतका ऋण है। उसे चुकाना होगा। भारतको खींचकर उसी पुराने गो-सेवाके लक्ष्यपर लाना होगा। पहले ... .

फिर वही लेक्चर था जिसे मैंने बड़े धीरजसे बर्दास्त किया। आखिर जब घर पास आया तब बोले....

"अच्छा...."

"मैंने भी कहा—"अच्छा।"

"भाई, कभी कभी मिल लिया करो।"

" ज़रूर मिल लिया करूँगा। डेयरीका पता तो लगेगा ही।"

" हाँ हाँ। क्यों नहीं? वाह!"

इस तरह घरके दरवाज़ेपर लौट जानेको मुझे स्वतन्त्र छोड़ वे चले गये।

पुराने अभिन्न मित्रको पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। घरमें जाकर बात सुनाई—सबने मुझे भाग्यशाली स्वीकार किया, और अपनी-अपनी श्रद्धा-भेंट उनके दरवाज़ेपर चढ़ानेको सोचा।

४

उसके बाद दो-एक दफ़े देखा तो उनमें अन्तर पड़ गया था। बाक़ी बात वही थी—कपड़े बदल गये थे। यह नहीं कि मूँछें रखा ली हों। हाँ, अब खद्दरकी टोपी, और आन्ध्रकी मलमल-सी खद्दरकी धोती और कुर्ता और चप्पल। बग्घीमें बैठे होते थे। मैं पटरीपर चलता होता था—बग्घी सरसे निकल जाती थी। कभी देख लेते तो मुस्करा पड़ते थे। तब वे अपनी डेयरीकी जुस्तजूमें थे, और नेताओंसे मिलने-मिलाने-का काम करते थे।

आख़िर एक दिन दिन-दहाड़े ऐसा बीच-सड़क चल रहा था कि बग्घीको अपने आप रुकाना पड़ गया। वे उतर आये। बोले—कहाँ जा रहे हैं, प्रसादजी?

" दरियागंज।"

" तो चलिए, मुझे भी उसी तरफ़ जाना है। बैठ चलिए।"

मैं निष्कंटक बैठ गया। तब पता मिला, डेयरीके कामका आरम्भ हो गया है। कभी वहाँ पहुँचनेका निमन्त्रण भी मिला। " आओ भाई, किसी दिन देख जाना। कुछ नहीं तो सैर ही सही। दूर तो है ही।

कुल यहाँसे ३-४ मील जगह होगी।" मैंने कुछ हाँ-हाँ हूँ-हूँ कर ही दिया।

तब कितनी ज़मीन ली गई है, किस तरह उसे बोनेके लिए बाँटा है, गायोंकी क़िस्म और तादाद और क़ीमत और विशेषतायें, और गुणगान और उनका महत्त्व आदि-आदिका अविरल बखान मैंने भी सुन लिया। उनकी गाड़ीमें बैठा था। पर आपसे धीरजसे न सुना जायगा, इस-लिए जाने दें।

उनका रास्ता जहाँ अलग होता था, वहाँ—

"अब....यहाँ....

"मैं चटसे बग्घीसे कूद पड़ा।"

"देखो, प्रसाद, आना। किसी दिन भी आ जाना। नहीं तो मैं ही ले चलूँ?"

मैंने भी कह दिया—"यही ठीक होगा। घरपर ८ बजे मिलूँगा—चला चलूँगा—एतवारको।"

"अच्छा, मैं गाड़ी लेता आऊँगा। ध्यान रखना।"

"अच्छा।"

उनकी बग्घी चली गई और एतवारको घरपर नहीं आ सकी। पीछे पता चला, आवश्यक काम लग गया था।

५

मेरे घर एक स्वामीजी आये हुए हैं। असहयोगके ज़मानेने उन्हें अकस्मात्, संयोगवश प्रसिद्धि दे डाली है। पर प्रसिद्धि उनके योग्य नहीं है। प्रसिद्धि जैसी बाज़ारू चीज़ उनके साथ लगी अच्छी नहीं लगती। वे उससे घबराते भी हैं। मुझपर उनका विशेष अनुग्रह है।

मेरे वे पिता और गुरु सरीखे हैं। मेरे इस अधःपातके ज़मानेमें भी अपना अनुग्रह मुझपरसे नहीं उठा लिया है। वे बड़ी जगह ठहरने और जानेसे बचते हैं, और मेरे ही यहाँ ठहरते हैं।

दिल्लीकी तंग गलियों और मकानोंमें उनकी उन्मुक्त आत्मा चैन नहीं पाती, इससे वे दिनमें और रातमें ज्यादातर बाहर निकल जाते है। हाँ, खानेका तो हमारे यहाँ ठीक है, बाक़ी कुछ नहीं।

एतवारका दिन था। मेरी छुट्टी थी। स्वामीजीने कहा—हम तो जाते है।

" कहाँ जाइएगा ? "

" जिधरको चल दिया। "

" अच्छा ठहरिए, " मैने कहा और मित्रकी डेयरी जानेके आमंत्रणकी बात सोचनी आरम्भ कर दी। दिन अच्छा है, चलो यही सही और आज ही सही। अपने ऐसे बढ़िया मित्रको दिखाकर अपने मनकी भी थोड़ी शाबाशी जीतनेकी इच्छा हुई। स्वामीजीकी निगाहमें मैं कुछ उठ ही जाऊँगा। बोला—

" स्वामीजी, एक जगह चलते हैं। एक डेयरी है, खुली जगह है, खेती भी है। मेरे एक पुराने मित्रका स्थान है।"

"चलो।"

मैं, मेरी स्त्री, छोटा बच्चा और स्वामीजी—गाड़ी लेकर हम चारों चल दिये। दोपहर होते-होते वहाँ पहुँच गये। मित्र वहीं मिले।

बड़ी लम्बी-चौड़ी जगह है। यह गायोंके रहनेकी जगह है, यहाँ दुही जाती हैं, यहाँ चरती हैं, वग़ैरह-वग़ैरह।

ज़मीन इस तरह बाँटी गई है, इतनेमें चरागाह, इतनेमें नाजकी खेती, इतनेमें साग-भाजी, थोड़ेमें फल-फूल—उधर ईख है—यह

सब कुछ भी; पानीका भी इन्तजाम किया, इतनी कठिनताओंका सामना करना पड़ा, अब बहुत ठीक हो गया है, खर्च बड़ा पड़ गया है—आदि आदि व्यवसायकी बातें भी; दूध ऐसे ठीक रहता है, जर्म्स नहीं रहने चाहिए, यह करना चाहिए आदि आदि ज्ञानकी बातें; अपने इस आदमीकी और उस गौकी शिकायत और तारीफ़—इस प्रकार मित्रने फुटकर सूचनाओं और ज्ञानका भांडार हमारे सामने पटक दिया। हमने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना और बाक़ी बिखेर दिया।

हमने गो-सेवाके और कमाईके इस कामको देखकर प्रसन्नता जतलाई।

तब खानेकी कुछ इच्छा प्रकट की। लेकिन यह भूल गये कि इस साल पाला कड़ाकेका पड़ा था। खेतोंका सत्यनाश कर गया। चनेके पौधे मरे पड़े हैं, बूँट अभी न जाने कब आयेंगे; बाल गेहूँकी आई नहीं, झुलस गई हैं; इसीसे मटरमें भी दाने नहीं पड़ पाये हैं। आखिर एक ज़रा ठीक सा चनेका खेत दीख पड़ा है। किन्तु है!

"उसमें फूल आ गये हैं, उसे नहीं। मैं दूसरा खेत बताता हूँ। वहाँ चनेका साग ठीक मिलेगा.।"

मेरी स्त्रीने चौंककर उस फूलदार चनेके साग परसे हाथ उठा लिये। दूसरे खेतपर पहुँचे—कोंपल तोड़-तोड़कर खाकर कुछ तुष्टि प्राप्त की। मित्र इस बीच अपने इस उद्योगकी अवस्था हमारे सामने फैलाते रहे—

"खेती यों होती, पर यह पाला ....!"

पता चला गाजर-मूली हैं। उन्हें ही मँगाओ भाई! आखिर लौट कर आये और दुग्धशालाके आगे खुले मैदानमें खाट डालकर बैठ गये। पेंसिल सी मूलियाँ और अंगुल भरकी गाजरें धोकर तश्तरीमें पेश की गईं। हम चार जने एक तश्तरी भर ये 'फल' कैसे खा जायेंगे?—

तश्तरी सामने पेश करके सभ्यता भी यह देखने खड़ी हो गई है। इससे कुछ तो भूख ही खाई और बड़े आहिस्तेसे उठाकर तश्तरीमें रक्खी इन फलोंकी एक-एक तराश खाई। खा चुके तब मित्रने हुक्म दिया और तश्तरी नौकर उठा ले गया।

लेकिन बच्चा भूख नहीं निगल सका है। और मेरी स्त्री भी ज़रा-ज़रा...। मैं बड़ा सभ्य बन रहा हूँ, मानो वह तराश भी मेरे पेटमें जाकर बैठ रही हैं। स्वामीजी बड़े प्रसन्न हैं।

एक बात भूल गई, गायोंको दुहनेवाले आदमीको ६ रोज़ हुए एक गायने लात मार दी थी। उसके आँखमें लगी, आँख बेकाम हो गई, और उसे अलहदा कर देना पड़ा। अभी तक दूसरे आदमीका बन्दोबस्त हो नहीं पाया है, इसलिए उससे ही काम चलाना पड़ता है। इस तरह मिक़दारसे ८ पौंड दूध कम दुहा जाता है। कारण बताया गया—

"दुहनेकी एक ख़ास प्रणाली होती है। ज़ोर भी पड़ता है। आदी होनेकी बात है—जो नहीं जानता वह....।"

लेकिन कारण जाननेको हम बहुत उत्सुक नहीं हैं। बस हो गई बात कि ८ पौंड दूध कम होता है।

तो शाम हो रही है। अब चलना चाहिए। उधर सामने ही पौने दो-सौ पौण्ड दूध तुल चुका है। अब सील लगाके बाज़ारमें जायगा। बँधे गाहक हैं, वहीं पहुँच जाता है। बल्कि ८ पौण्ड कम दूध होनेसे बड़ी मुश्किल हो रही है। डिमांड ज्यादा है, सप्लाई कम—फिर उसमेंसे भी ये ८ पौंड कम हो गये हैं। बड़ी मुश्किल है।

कैसा साफ़-सफ़ेद गाढ़ा दूध भर रक्खा है और कितना सारा! बच्चेने मासे कहा और मैंने सुना। पर मैं चुप रहा। स्वामीजीने भी सुना, वे भी चुप रहे और हँस पड़े।

आखिर बच्चेकी खातिर स्त्रीको बेहयाई भुगतनी पड़ी। अलग बुलाकर कहा—बच्चेके लिए थोड़े दूधको कह दो।

मन करारा बनाकर मैंने जवाब दिया—हाँ हाँ, सो क्या बात है?

मैंने फिर मित्रसे कहा—भाई, डेयरीमें आये, दूध चखा ही नहीं, यह भी कोई बात है? मित्र पानी हो गये, बोले—भई प्रसाद, ८ पौंड....

आगेकी बात नहीं कहूँगा। चुपकर देनेवाली सफ़ाई थी।

जी हुआ उस पौने दो सौ पौंड दूधमें थूक दूँ और क़ीमत देकर मुक़ाबलेको खड़ा हो जाऊँ। लेकिन कहा—जाने भी दो। तो क्या हुआ? ऐसा क्या मैं कुछ नहीं समझता?

फ़ौरन हम चले आये। बच्चा भूखा रहा, प्यासा रहा, पर रास्तेमें कोई बाजार थोड़े ही पड़ता है जो कुछ लेकर दे दिया जाता!

६

घरके सब लोग इकट्ठा हुए—स्वामीजीने हँसकर कहा—देखे, आपके मित्र? यही तो दुनिया है।

मै बचावपर उद्यत हुआ, बोला—वे........। लेकिन........।

पर बात कहनेको मिली नहीं। स्वामीजीने कहा—तुमको भी ऐसा ही बनना चाहिए।—समझे!

मै चुप।

तबसे स्त्रीको अच्छी बात कहनेको मिल गई है। और मैं चुप हो जाता हूँ। पर मैं अब भी समझता हूँ—लाचारी एक चीज होती है, और नीयतपर हमला न होना चाहिए।

लेकिन स्वामीजी सब बातोंपर हँस देते हैं।

ब्याह



१

बड़े भाईके बाद, अब घरका बोझ मुझपर पड़ा। घरका तन्त्र भी मेरे हाथमे आया। लेकिन मुझे इसमें कुछ दिक्कत नहीं हुई। सेशन जज हूँ, ७००) पाता हूँ, और घरमें मुकाबलेको कोई नहीं है। माँ सेवा और आज्ञानुसरणके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानतीं; और पत्नी जितनी ही कम शिक्षिता हैं, उतनी ही ज्यादे पतिप्राणा हैं।

किन्तु भाईसाहब, अपने अन्तिम समय, जिसे खास तौरसे बोझ जतलाकर मुझे सौंप गये, मेरे ऊपर छोड़ गये, उसके सम्बन्धमें मुझे अवश्य सतर्क और चिन्तित रहना पड़ता है। ललिता मैट्रिकके साथ अपना सोलहवाँ साल पार कर चुकी है। भाईसाहब अपने जीवनकालमें इसे जहाँ-तक हो वहाँ-तक पढ़ाना चाहते थे। शायद कारण यह हो कि वह खुद बहुत कम पढ़े थे। किन्तु आखिरी क्षण, आश्चर्य है, उन्होंने ललितकी शिक्षाके बारेमें तो कुछ हिदायत न दी, कहा तो यह कहा कि—देखो, ललितका ब्याह जल्दी कर देना। मेरी बात टालना मत, भूलना मत।

अब, भाईसाहबकी अनुपस्थितिमें, ललितको देखते ही, ये शब्द बड़ी बेचैनीके साथ मानों भीतर विद्रोह मचा उठते हैं। मै उन्हें भीतर-ही भीतर खूब उलटता-पलटता हूँ, सोचना चाहता हूँ—यह क्यों कहा गया ?—और मेरा क्या कर्तव्य है ?

ललिताको बड़ी जिज्ञासा, अन्वेषण, अनुवीक्षण और बड़ी चिन्ता और फ़ैसला-देने-के भावसे देखता हूँ। शायद उन शब्दोंका ललिताके व्यक्तित्वसे कोई सामंजस्य हो! फिर रह-रहकर ध्यान होता है, मुमकिन हो सकता है, भाईसाहबने समझा हो मैं ललितको ठीक प्यार, सँभाल और अपनेपनके साथ नहीं रख पाऊँगा, और तभी ऐसा कहा हो! जब यह बात उठती है, तो भाईसाहबपर बड़ा गुस्सा आता है। उन्होंने मुझे बे-भरोसेका आदमी समझा!—जैसे मैं उनका सगा, उन्हींका पाला, बढ़ाया और पढ़ाया नहीं हूँ!—जैसे मैं बिल्कुल जानवर हूँ!

ऐसी ही सब बातें सोचकर मैं ललितके ब्याहके बारेमें व्यग्र और उद्विग्न हो उठना नहीं चाहता। फिर सोचता हूँ, भाईसाहबकी मंशा पूरा करनेका काम अब मुझपर आ पड़ा है,—ललितको खूब पढ़ाऊँगा, और फिर खूब धूमसे विवाह करूँगा। दिया लेकर ऐसा लड़का ढूढूँगा जो दुनियामें एक हो। लड़केको खोजनेमें मैं खूब वक्त और खूब श्रम लगाना चाहता हूँ। ललित हमारी ऐसी जगह जायगी कि भैया भी स्वर्गमें खुशीसे फूल उठें!—पर जल्दी नहीं।

इस तरह लड़कीका पढ़ना जारी है। बी० ए० में पहुँचेगी, तब कहीं ब्याहकी सोचूँगा।

२

यह ललित भी हमारे घरमें अजीब ही लड़की है। कुछ पार ही नहीं मिलता। कुछ समझ ही नहीं पड़ती। जाने कैसे फ़र्स्ट क्लासमें मैट्रिक पास कर गई। पता नहीं पड़ता, जब पढ़नेमें इतनी होशियार है तो व्यवहार-में क्यों ऐसी अल्हड़ है। उसे किसी बातकी समझ ही नहीं है। लोग कुछ कहें, कुछ समझें,—जो समाया उसे वह कर ही गुज़रती है।

नौकर हों सामने, और चाहे अतिथि बैठे हों,—उसे ज़ोरकी हँसी आती है, तो वह कभी उसे न रोक सकेगी। गुस्सा उठेगा तो उसे भी बेरोक निकाल बाहर करेगी। सबके सामने, बे-हिचक, मुझ चाचाको चूमकर प्यार कर डालती है, और मेरी ही तनक-सी बातपर ऐसी तनक पड़ती है कि बस! हँसती तो वह खूब ही है, गुस्सा तो उसका आठवाँ हिस्सा भी नहीं करती होगी; हाँ, जब करती है तो कर ही देती है, फिर चाहे कुछ हो, कोई हो!

मै चाहता हूँ, उसे कुल-शीलका, सभ्यता-शिष्टताका, अदब-क़ायदेका छोटे-बड़ेका, व्यवहारमें सदा ध्यान रखना चाहिए। पर उससे इन सब बातोंपर निबंध मुझसे अच्छा लिखवा लो, ध्यान नहीं रखवा सकते। नौकरोंसे अपनापा जोड़ेगी, हमसे, जैसे, बची-बची रहेगी; सहपाठियों और अँग्रेजीदाओंसे हिन्दीके सिवा और कुछ न बोल सकेगी; नौकरों और देहातियोंके साथ अँग्रेज़ी बोलेगी। नौकरोंको तो कभी-कभी अँग्रेज़ी-के पाँच-पाँच मिनट तकके लेक्चर सुना देती है, जैसे मानों दुनियामें ये ही उसकी बातका मर्म समझनवाले मिले हैं। समकक्षियों और बड़ोंमें धीर-गम्भीर और गुम-सुम रहती है, जैसे सिरमें विचार-ही-विचार हैं, ज़ुबान नहीं है; छोटोंमें ऐसी खिली-खिली और चहकती फिरती है कि जैसे इसका सिर ख़ाली है, चलानेको बस ज़ुबान ही है।

मिसरानीको बड़ा ही तंग करती है। पर मुश्किल यह है कि मिस-रानीको इस बातकी बिल्कुल शिकायत नहीं है; और इस कारण मेरे पास डपटनेको पूरा मौक़ा नहीं है। पर ललित बेज़रूरत चौकेमें पहुँच जाती है; कभी उँगली जलाती है; कभी नोन अपने हाथसे डालनेकी ज़िद करके दालको कड़वी बना देती है, आटा उसनते-उसनते जब बहा-बहा फिरने लायक़ हो जाता है, तो मिसरानीजीसे साहाय्यकी प्रार्थना करती

है, और मिसरानी उसके दायें कानको, हँसते-हँसते, अपने बायें हाथसे ज़रा टेढ़ा-तिरछा करके, आटा ठीक कर देती है। मालकिनके मुलायम कानोंको मसलनेका जब अधिकार-संयोग मिले, तो उस अवसरको मिस-रानी जान-बूझकर क्यों खोये ?—उसे दिक़ होना पड़ता है तो हो।

लेकिन मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। जैसे जहाँ जायगी वहाँ इसे ही रोटी बनानी पड़ेगी! फिर क्यों फ़िजूल ऐसे कामोंमें हाथ डालती है ?—यह तो है नहीं कि टेनिसकी अपनी प्रेक्टिस बढ़ा ले, शायद उसीमें चमक उठे, और अख़बारोंमें नाम हो जाय। इसलिए मैं उसे काफ़ी गुरु-मुद्राके साथ धमका देता हूँ—'ललिते, यह क्या यहाँ-वहाँ उल-झती-फिरती हो। वहाँ मिसरानीके पास निठल्ली वक्त गँवाती हो,—कुछ पढ़ो-लिखो तो नफ़ा ही हो। ललिते, मैं कहता हूँ, छोटे लोगोंकी नहीं, बड़ोंकी सोहबत करो।—वह डिक अभी आया था, मैंने कह दिया तुम गई हो। यह शकल देखता तो क्या कहता! कैसे धुएँने आँखोंसे पानी निकाल-निकालकर, आँखोंको लाल कर दिया है। और उस पानी-ने धुएँसे सनकर सारे चेहरेको कैसा चिपकना-बुरा बना रक्खा है। ललिते, मैं कहता हूँ य' ठीक नहीं।

इसका जवाब ललिताने जो दिया, अगर वह मेरी निजकी लड़की देती, तो मैं बरदास्त न कर सकता; पर ललिताके मुँहसे सुनकर न बहुत ज्यादे गुस्सा हुआ, न बहुत अचरज। गुस्सा होता भी तो मैं कुछ ज्यादे न कर सकता था। मेरे समीप वह भाईसाहबकी स्मृति थी, उनकी प्रति-मूर्ति थी; मेरे समीप वह रक्षासे, बहला-बहलाकर, स्नेहपोष्य वस्तु थी। इसलिए मैं उसका जवाब सुनकर चुप रह गया, और उसे उसके मार्गसे न हिला सका। मुझे विश्वास है, चुप न रहकर चाहे और कुछ भी क्यों न करता, उसे उस मार्गसे न हिला सकता। जवाबमें उसने कहा था—

"चाचाजी, डिक सफ़ेद आदमी है। मैं काली हूँ। चाचाजी, आप भी भूलिए मत, आप भी काले हैं। क्या हम कालोंको सफ़ेदोंकी खुशी-नाखुशी ढूँढ़नेके सिवा और कुछ काम नहीं? हम-ही ऐसे हैं, जो उनके ओठोंके और भौंहोंके ज़रा वक्र होनेपर या तो अतिशय धन्य होकर, या फिर पैरोंमें पड़कर, मर जाना चाहते हैं! लेकिन मैं ऐसी नहीं रहना चाहती।—और यह हम लोगोंकी बान नहीं है कि होटलकी डबल रोटी खायँ, और चौकेसे घिन करें। मुझे तो अपने चौकेकी रोटी ही अच्छी, और मैं चौकेसे अपना पिण्ड छुड़ाना नहीं चाहती।"

यह लड़की जो ज़रा दुनिया नहीं समझती, जो समझती है उसकी कोर्सकी किताबोंमें और कल्पना-क्षेत्रमें उड़ते-हुए उसके छोटेसे दिमागमें ही दुनिया बन्द है, उससे बहसमें कौन पड़े!—समझती ही नहीं, तो करे अपने जीकी।—पर डिक!

डिक हमारे ज़िलेके डिप्टी-कमिश्नरका लड़का है। अभी एक वर्षसे विलायतसे आया है। आक्सफर्डमें पढ़ता है। पर पिताने हिन्दुस्तान देखनेके लिए बुला भेजा है। पिताकी राय है, डिक आई० सी० एस० में जाय।

बड़ा अच्छा है—डिक। घमंड उसमें नामको नहीं। बड़ा मृदुभाषी, सुशील, शिष्ट। ज़रा आप उसे जानें कि फिर ऐसे मिलता है कि वह आपका ही है। ललिताको जानकर उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। ललिताकी बड़ी तारीफ़ करता है।

पर मुझे कुछ और लगता है। मुझे कुछ और आशा है। डिक हर लिहाज़से मुझे बहुत सुन्दर जँचता है। पर मैं उसे और-और देखता हूँ,—और वह और-और अच्छा लगता है। मैं सोचता हूँ....। बात बहुत सुंदर है, डिककी ओरसे पूरी संभावना है। लेकिन....

लेकिन ललिता तो डिकको सदा कन्ने ही देती है। यह नहीं कि उससे बोलती नहीं, मौकेपर खूब बोलती है। पर मानो उन बातोंको बीचमें डालकर ही ललिता अपने और डिकके फासलेको अनुल्लंघनीय बना देती है। यह मैं डिकसे सुनकर सब जानता हूँ, और यह भी जानता हूँ कि डिक इस अन्तरको जितना ही अनुल्लंघनीय पाता है उतना ही देखता है कि एक अनिश्चित चाह उसे मानों और विवशतासे चाबुक मार-मारकर भड़का रही है।

३

इधर ललितमें एक अन्तर देख पड़ने लगा। हँसना एकदम सूक्ष्म हो गया है, और हठात् वक्त-बेवक्त पढ़ना शुरू हो गया है। अब वह बहुत पढ़ती है। मानों जी उचाट रहता है, और उसीको जबरदस्ती लगाये रखनेके लिए ये सब प्रयत्न और प्रपंच किये जाते हों।

इधर एक खबर डिकके बारेमें भी लगी है। कुछ दिनोंसे उसका इधर आना कम हो गया है। अब अचानक पता चला कि उसने एक हिंदी-ट्यूटर लगा लिया है और हिन्दी-प्रवेशिकाके पहले भागको खतम कर डालनेमे दत्तचित्त है।

ये लक्षण बड़े शुभ माळूम होते हैं। माळूम होता है—दोनोंमें कुछ खटपट हो गई है। नजदीक लानेमें इन छोटी-छोटी कलहोंसे अचूक और अमोघ चीज कोई नहीं। माळूम होता है, ललितने एक झिड़कीसे डिकको ठीक मार्ग दिखा दिया है। और डिक अब उसी मार्गपर चलनेकी तैयारी कर रहा है।

इतना सब कुछ समझनेपर भी ललितकी ओरसे मुझे खटका ही रहता है। माळूम नहीं, उसके जीमें कब क्या समा उठेगा। माळूम नहीं,

वह किस लोकमें रहती है, किस प्रणालीसे सोचती है । उसके जीका भेद मै नहीं समझ पाता ।

माल्लूम होता है, अब उसका जी ऐसी हालतमें पहुँच गया है, जहाँ उसे थपक-थपककर सुलाए रखनेकी जरूरत होती है, जहाँ उसे सबकी जिज्ञासु-दृष्टियोंसे छिपाकर रखना पड़ता है, जहाँ उससे खुद-ही-खुद निबट लेना होता है ।

मैं अदालत करके आया हूँ, कपड़े पूरे उतार नहीं पाया कि ललितने, बेधड़क मेरे कमरेमें आकर, अपनी मेज़की शिकायत न जाने कौन-वीं बार दोहरायी ।

" चाचाजी, मैंने कितनी बार आपसे मेज ठीक करवा देनेके लिए कहा है !—यह क्या बात है ? "

मैं मानता हूँ, मुझे कई बार कहा गया है । मैंने फिर भी कहा—
" अच्छा, अच्छा, अब करवा दूँगा । "

" कबसे अच्छा-अच्छा ही हो रहा है । अभी करवाके दीजिए । "

" अभी ?—अच्छा, अभी सही । "

" सही-वही नहीं । मैं अभी करवा लूँगी । आप तो यों ही टालते रहते हैं । "

" ललिते, अब नहीं टालूँगा । बस ।"

" नहीं—"

" अभी, मिस्त्री कामसे लौटे होंगे । अभी कौन मिलेगा ? "

" मिस्त्री दस मिल जायेंगे ।........मिल जाय, तो मै लगा दूँ ?"

. " हाँ-हाँ; लगा लो । "

यह कहकर उसे टाला, कपड़े उतारे, हाथ-मुँह धोया, और अख़बार लेकर ईज़ी-चेयरपर पड़ गया ।

कुछ देर बाद खुट-खुट कानोंमें पड़ी। 'नेशन' के अग्रलेखका तर्क मुझे ठीक नहीं लग रहा था, उसे पढ़ते-पढ़ते ऊँघ-सी भी आने लगी थी, तभी यह खुट-खुट सुनकर मैं अंदर पहुँचा।

"यह क्या है ललित ?" कहता मैं ललितके कमरेमें दाखिल हुआ कि देखता हूँ एक बढ़ई काममें लग रहा है।

"आपने कहा था न कि मिस्त्री लगा लेना ?"

कहा था तो कहा होगा, पर मुझे उसकी कोई विशेष याद नहीं थी।

"तो तुम लपककर उसे बुला भी लाई ? गोया तैयार ही बैठा रक्खा था।"

"नहीं। बाहर जाता दीख गया, मैंने बुला लिया।"

"दिनभर काम करके लौट रहा होगा, सो तुमने बुला लिया! मज-दूर बेचारेपर कोई भी दया नहीं करता,—तुम्हारा क्या ?"

"कोई बेगार थोड़े ही है।" ललिताने कहा—"उजरत भी तो दी जायगी। य' तो इसमें खुश ही होगा।" और मुड़कर मिस्त्रीसे पूछा "क्यों,—बाबा ?"

मिस्त्री बुड्ढा है। सिक्ख है। बड़ी लम्बी सफ़ेद डाढ़ी है, सफ़ेद ही साफ़ा है, आँखोंमें स्नेह और दीनताका रस है। ललिताके प्रश्नको सुनकर उसने ऐसे देखा जैसे मानों उसकी आँखोंमेंकी दीनता और स्नेह एकदम छलक आया है।—'बाबा !'—मानों इस ललिताके मुँहके सम्बोधन-की मृदुताने उसके प्राणोंमें सुखकी एक सिहरन लहरा दी। उसने कहा—

"नहीं बेटी, मुझे सबेरेसे कोई काम नहीं मिला। मेरा घर यहाँ नहीं है। बहुत दूर है—बहुत दूर ! पेशावर तुमने सुना होगा, उसके पास अटक है, अटकके पास मेरा घर है। दरिया सिन्ध उसको छूकर

बहता है। मैं यहाँ आज ही आया हूँ। काम न मिलता तो न जाने मेरा क्या होता।"

दरिया सिन्धके किनारेवाले हिन्दुस्तानके छोरपरके गाँवसे यह बुड्ढा सिक्ख नर्मदाके किनारेके, हिन्दुस्तानके बीचों-बीच बसे हुए, उस होशंगाबादमें इस प्रकार बे-पैसे किस आफतका मारा आ पहुँचा—सो सब जानना मुझे आवश्यक न जान पड़ा। पर ललिताने कुरेद-कुरेदकर उसकी कहानी पूछी। मैंने भी सुनी।

जब वह बुड्ढा नहीं था, जवान था,—तबकी बात है। दरियामें बाढ़ आ गई। झोंपड़ा बह गया, खेत डूब गये। वह, उसकी घरवाली और उसका एक छोटा लड़का—इन तीनोंने एक दूर गाँवमें जाकर आसरा लिया। पर खायें कहाँसे? जो थोड़ा बहुत नक़द बाढ़के मुँहमेंसे बचाकर ले आ सके थे, उसे ही बैठे कबतक खायें? ऐसे ही चिन्ता के वक्त उन्हें एक तरकीब सुझाई गई। मद्रास वह चला जाय, तो वहाँ बहुत आदमियोंकी जरूरत है, खूब तनख्वाह मिलती है, और भी सब सहूलियत हैं, खूब आराम है। थोड़े ही दिनोंमें मालामाल होकर लौट आ सकेगा। मद्रास पहुँचा—वहाँसे फ़िजी। घरसे निकलनेपर यह उसके बसका अब न रह गया था कि वह फ़िजी न जाये। तब फ़िजी न जाता तो शायद जेल जाना पड़ जाता; और क्या ताज्जुब जो जानसे ही हाथ धो बैठनेका मौक़ा आ जाता। फ़िजीमें हाड़को और जानको पेलकर काम किया। पीछेसे वहाँ कमानेका मौक़ा हो सकता था, पर बच्चेकी और घरवालीकी यादने वहाँ रहने न दिया। जहाज़के टिकट लायक पैसा हुआ कि वह चल दिया। मद्रास आया। इन आरी और बसूलोंसे ही उसने मद्रासमें एक महीने तक अपना पेट भरा और इनसे ही एक महीनेमें बम्बई तकका किराया जुटाया। बम्बईमें वह जैसे-तैसे

पेट तो भर सका, पर लाख कम खाने और हज़ार ज्यादे काम करनेपर भी वह ऊपरसे कुछ जुटा न सका। आखिर लाचार बेटिकट चल दिया। यहाँ होशंगाबादमें टिकटवालेने उतार दिया। वहींसे वह अपने औज़ार सँभाले चला आ रहा था। बहुत समझो, उसकी यह पूँजी रेलवालोंने छोड़ दी

कहानी सुनकर मुझे बुड्ढेपर रहम करनेको जी चाहा। पूछा—

"ललित, इसे कितनेमें ठैराया था?"

"ठैराया तो कुछ नहीं...."

"ठैराया नहीं?"

'नहीं...."

"अच्छा, जो ठैरातीं उससे एक आना ज्यादे देना।"

"अच्छा...." और मुझसे सिर्फ़ यह जरा-सा 'अच्छा' कहकर सिक्खसे उसने पूछा—"बाबा, तुम यहाँ रहोगे?"

"ना, बेटी।"

"क्यों, बाबा?"

"घर तो अपना वहीं है। घर क्या छोड़ा जाता है? फिर बच्चेको कबसे नहीं देखा। बीस साल हो गये।"

"बाबा, क्या पता, वह मिलेगा ही। बीस बरस थोड़े नहीं होते।"

"हाँ, क्या पता! पर मैंने अपने हिस्सेकी काफ़ी आफ़त भुगत ली है।—परमात्मा अब इस बुड्ढेसे उसका बचा-खुचा सब कुछ नहीं छीन लेंगे। मुझे भरोसा है, वह मुझे ज़रूर मिलेगा।....हाँ, उसकी माँ तो शायद ही मिले।"

ललितके ढंगसे जान पड़ा, वह इतनी थोड़ी-सी बातें करके संतुष्ट नहीं है। वह इस बुड्ढेसे और बातें करना चाहती है। पर मुझे तो

समय वृथा नहीं गवाँना। मैं फिर एक आना ज्यादे देनेकी हिदायत देकर चला आया।

४

वह बुड्ढा तो धीरे-धीरे मेरे घरसे हिलने लगा। ज्यादेतर घरपर ही दीखता है। किसी न किसी चीज़को ठीक करता रहता। उसने घरके सारे बक्सोंको पालिशसे चमकाकर नया कर दिया। नई-नई चीजें भी बहुत-सी बना दीं। वह ललितका विशेष कृपापात्र था, और ललित उसकी विशेष कृतज्ञता-पात्र थी। उसने एक बड़ा सुन्दर सिंगारदान ललितको बनाकर दिया, एक कैश-बक्स। मेरे लिए हैट-स्टैण्ड, खुँटिया, वग़ैरह वग़ैरह चीज़ें बनाकर दीं। मैंने भी समझा, वह अपने लिए इस तरह ख्वाहमख्वाह मजदूरी बढ़ा लेता है,—चलो, इसमें गरीबका भला ही है।

लेकिन हरेक चीज़की हद होनी चाहिए। गरीबकी भलाईकी जहाँतक बात है वहाँतक तो ठीक। पर उनसे दोस्ती-सी कर लेना, उनको अपना ही बना बैठना,—यह भी कोई बुद्धिमानी है! पर अल्हड़ ललित यह कुछ नहीं समझती। उसका तो ज्यादे समय अब उस बुड्ढेसे ही छोटी-मोटी चीजें बनवाते रहनेमें, और उससे बातें करते रहनेमें बीतता है।

मैं यह भी देखता हूँ कि बुड्ढा दीनताके अतिरिक्त और उम्रके अतिरिक्त, और किसी बातमें बुड्ढा नहीं है। बदनमें खूब हट्टा-कट्टा है, लम्बा-चौड़ा है। दाढ़ी-मूछोंसे भरा हुआ उसका चेहरा एक प्रकारकी शक्तिसे भी भरा है। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने उसे एक दिन बुलाकर कहा—

"बुड्ढे, अब गाँव कब जाओगे?"

"गाँव?....कैसे जाऊँगा जी, गाँव?"

"क्यों ?....

"जी...."

"देखो, थोड़ी-बहुत मददकी जरूरत हो, मैं कर दूँगा। पर तुम्हें अब अपने बच्चेके पास जाना चाहिए । और....और यहाँ जब काम होगा, बुला लूँगा, तुम्हारा फिज़ूल आना जाना ठीक नहीं ।"

बुड्ढा इसपर कुछ न बोला—मानों, उसे स्वीकार है । उसके बादसे वह घरपर बहुत कम दीखा । एक बार आया, तो मैंने जवाब तलब किया—"बुड्ढे, क्यों आये ?—क्या काम है ?"

"जी, बिटियाने बुलवाया था।"

ललिताको अब यह बिटिया कहेगा ! इतना बढ़ने देना ठीक नहीं । मैंने जोरसे कहा—"बिटिया ?—कौन बिटिया ?"

"वही, आपकी...."

"देखो, बुड्ढे, गुस्ताखी अच्छी नहीं होती ।"

इसपर बुड्ढा बहुत कुछ गिड़गिड़ाया—'गुस्ताखी नहीं,' 'गुस्ताखी नहीं,' और उसने बहुत-सी शपथें खाकर विश्वास दिलाया, वह कभी अपनेको हमारी बराबर नहीं समझता; 'आप तो राजा हो, हम तो किंकर हैं, नाचीज़ हैं;' और 'वह तो मालकिन है, साक्षात् राजरानी है,'.... आदि-आदि;—और अंतमें धरतीपर माथा टेककर चला गया ।

बुड्ढेकी ओरसे मुझे निश्चिन्तता मिली । पर उसी रातको मेरे पास आया डिक । उसने बताया वह हिन्दी-शिक्षावली दो भाग खतम कर चुका है; वह और भी जो ललितकी आज्ञा हो करनेको तैयार है; वह अब जल्दी ही इंग्लैंड वापिस चला जायगा; पर ललितके बिना कैसे रहेगा; उसने अपने पैसेके, अपनी योग्यताके, अपनी स्थितिके, संक्षेपमें

अपने बड़प्पनके वर्णन पेश किये; अपना प्रेम जतलाया और उसके स्थायित्वकी शपथ खाई। इस तरह अपना सम्पूर्ण केस रखनेके बाद मेरी सहमति चाही। पर मेरी सहमतिका प्रश्न नहीं था। मेरी तो उसमें हर तरहकी मति थी। मैंने उसे आश्वासन दिया—

"कल ललितसे ज़िक्र करूँगा।"

"देखिए, मैं नहीं जानता क्या बात है। पर मुझे ललिताको अवश्य पाना चाहिए। मेरी उससे बातचीत हुई है—खूब हुई है। वह मेरे गोरेपनसे घबड़ाती है, पर मैं उससे भी कह चुका हूँ, आपसे भी कहता हूँ, इसमें मेरा दोष तो है नहीं। फिर हिन्दी मैं सीखता जा रहा हूँ। वह कहती है, मुझमें और उसमें बहुत अन्तर है। मैं मानता हूँ–है। न होता तो बात ही क्या थी। पर हम एक हुए तो मैं कहता हूँ, सब अंतर वह जायगा, मैं सब अन्तर बहा डालूँगा। जो वह चाहेगी सो ही करूँगा।"

मैंने उसे विश्वास दिलाया, मैं भरसक करूँगा। किन्तु अच्छा होता ललितको ही माफ़िक़ कर लिया जाता।

उसने कहा, ललितके भारतीय-वातावरणमें पले होनेके कारण बिल्कुल स्वाभाविक है कि वह इस संबंधमे अपनी आज्ञा अपने अभिभावकसे प्राप्त करे। इसीलिए उसने मुझसे कहना ठीक समझा।

मैंने फिर उसे वही विश्वास दिलाया, और वह मेरी चेष्टामें सफलता-की कामना मनाता हुआ चला गया।

५

अगले रोज़ ललितासे ज़िक्र छेड़ा।

"ललित, रात डिक आया था।"

ललित चुप।

"तुम जानती हो, वह क्या चाहता है। तुम यह भी जानती हो कि मैं क्या चाहता हूँ।"

वह चुप। वह चुप ही रही।

मैंने सब ऊँच-नीच उसे बताया, अपनी स्पष्ट इच्छा,—यदि आज्ञा हो सके तो आज्ञा,—जतला दी; ऐसे संबंधोंका औचित्य प्रतिपादन किया; (संक्षेपमें) सब कुछ कहा। मेरी बात खतम न हो गई तबतक, वह गंभीर, मुँह लटकाये, एकध्यान एक मुद्रासे, निश्चल खड़ी रही। मेरी बात खतम हुई कि उसने पूछा—

"बाबाको आनेसे आपने मना किया था?"

कहाँकी बात कहाँ? मैं समझ नहीं पाया। पूछा—"कौन बाबा?"

"वही बुड्ढा, सिक्ख, मिस्त्री।"

"हाँ, मैंने समझाया था, उसके फ़िजूल आनेकी ज़रूरत नहीं।"

"तो उनसे (डिकसे) कहिए, मैं अपनेको इतनी सौभाग्यवती नहीं बना सकती। मुझ नाचीज़की फ़िक्र छोड़ें।"

मुझे बड़ा धक्का लगा। मुँहसे निकला—"ललिता....!"

"उनसे कह दीजिएगा—बस।"

इतना कहते ही वह चली गई और मैं कुछ भी न समझ सका।

अगले रोज कचहरीसे लौटा तो घरपर ललिता न थी। कालिजमें दिखवाया, उसकी महिला-मित्रोंके यहाँ पुछवाया। फिर उस बुड्ढे मिस्त्रीके यहाँ ढुँढ़वाया। वह न मिली। वह बुड्ढा भी ग़ायब था।

६

पूरा यक़ीन है, पुलिसने खोजमें कमी न की और पूरा अचरज है कि वह खोज कामयाब नहीं हुई! मैं समझता हूँ, वह सिक्ख सीधा आदमी

न था। छँटा बदमाश है, और उस्ताद है,—पुलिसकी आँख बचानेका हुनर जानता है।

डिकको जब इस दुर्घटनाकी सूचना और ललितका संदेश मैंने दिया, तो डिक बेचैन हो उठा। उसने खुद दौड़-धूपमें कसर न छोड़ी। पर कुछ नतीजा न निकला। डिक खुद अटक हो आया; पर वहाँसे भी कुछ ख़बर न लगा सका।

हम सब लोगोंने स्त्रियोंके भगाये जाने और बेच दिये जानेकी ख़बरोंको याद किया, और यद्यपि इस घटनाका उन विवरणोंसे हम पूरा मेल न मिला सके, फिर भी समझ लिया, यह भी एक वैसी-ही घटना हो गई है। वह बुड्ढा सिक्ख ज़रूर कोई इसी पेशेका आदमी है, चालाक है, जाने कैसे ललितको बहका ले गया।

७

कोई इसके महीने भरके बादकी ही बात है। एक दिन मेरी अदालतके ही कमरेमें डिकने आकर मुझे एक तार दिखाया। कैम्बेलपुरके कलक्टरका तार था। उक्त विवरणकी लड़कीके साथ एक बूढ़ा सिक्ख पाया गया है। वह गिरफ़्तार करके होशंगाबाद ही लाया जा रहा है। लड़कीने मुझसे (कलक्टरसे) बोलनेसे इन्कार कर दिया, इससे मैं उसे समझाकर होशंगाबाद न भिजवा सका।

हमें बड़ी खुशी हुई। डिक फौरन ही कैम्बेलपुर जानेको उतावला हो उठा, पर मैंने रोक दिया,—

"पहिले, उसे आ तो जाने दो। देखो, कौन है, कौन नहीं।"

इसके तीसरे रोज़ मुझे एक ललितकी चिट्ठी मिली। चिट्ठी बहुत

संक्षिप्त थी। मैंने अबतक ललितकी कोई चिट्ठी नहीं पाई, कोई मौक़ा ही नहीं आया। लिखा था—

" चाचाजी,

पिताजीके बाद बहुत थोड़े दिन तक मैंने आपको कष्ट दिया। इस-लिए, पिताजीके नाते भी और अपने निजके नाते भी, मेरा आपपर बहुत हक़ है। उस सबके बदलेमें आपसे एक बात माँगती हूँ। उसके बाद और कुछ न मागूँगी, समझिए मेरा हक़ ही निबट जायगा। बाबा गिरफ्तार कर लिये गये हैं। उन्हें छुड़वाकर घर ही भिजवा दें, खर्च उनके पास न हो, तो वह भी दे दें।

आपकी—

ललिता "

चिट्ठीमें पता नहीं था, और कुछ भी नहीं था। पर ललिताकी चिट्ठी मानों ललिता ही बनकर, मेरे हाथोंमेंसे काँपती-काँपती मुझसे अपना अनु-नय मनवा लेना चाहती है।

अगले रोज़ जेल-सुपरिण्टेण्डेण्टने मुझे बुलवा भेजा। वही बुड्ढा सिक्ख मेरे सामने हाज़िर हुआ। आते ही धरतीपर माथा टेककर गिड़गिड़ाने लगा—" राजाजी...."

" क्यों बुड्ढे, मैंने तेरे साथ रहम बर्त्ता। तैंने शैतानी ? "

' राजाजी ' और ' हुज़ूर ' ये ही दो शब्द अदल-बदलकर उसके मुँहसे निकलते रहे।

" अच्छा, अब क्या चाहता है ? "

" हुज़ूर....जो मर्ज़ी। "

" मर्ज़ी क्या, तुझे जेल होगी। काम ही ऐसा किया है। "

" हुज़ूर, नहीं-नहीं,....राजाजी ! "

"क्यों रे, मेरी लड़कीको ले भागनेवाला तू कौन था बदमाश पाजी।"

"नहीं-नहीं-नहीं...."

उसके बिना कहे ही मैं समझता जा रहा था कि वह किन्हीं विकट लाचारियोंका शिकार बनाया गया है। लेकिन उस घटनापर जो क्षोभ मुझे भुगतना पड़ा था, वह उतारना तो चाहिए। इसलिए मैंने उसे काफ़ी कह सुन लिया। फिर उसे रिहा कर देनेका बन्दोबस्त कर दिया।

छूटकर वह मेरे ही घर आया।

"राजाजी...."

उसकी गड़बड़ गिड़गिड़ाहटमेंसे मैंने नतीजा निकाला, वह ख़ाली हाथ है, किरायेको पैसा चाहता है, तुरन्त वह घर चला जायगा, नहीं तो उससे नौकरी या मजदूरी करवा ली जाय।

मैंने उसे घरपर रहकर काम करनेका हुक्म दिया।

डिकको मैंने सूचना दी—वही बुड्ढा सिक्ख आ गया है। डिकने कहा—"उसे छुटा लो। उसे साथ लेकर उसके गाँव चलेंगे।"

"छुटा लिया है।....तो गाँव चलोगे?"

"हाँ, जरूर, अभी।"

हम दोनों बुड्ढेको साथ लेकर चल दिये। हमने देखा, बुड्ढा बिल्कुल मनहूस नहीं है। बड़प्पनके आगे तो वह निरीह-दीन हो जाता है, पर अगर उससे सहानुभूति-पूर्वक हँस-खुशकर बोला जाय, तो वह बड़ा खुश-मिजाज बन जाता है। उसने सफ़रमें तरह-तरहकी हमारी सेवाएँ कीं, तरह-तरहके क़िस्से सुनाए;—लेकिन उस ख़ास विषयपर किसीने ज़िक्र नहीं उठाया। मानों वह विषय सबके हृदयके इतना समीप है कि ज़रा उँगली लगी तो वह कसक उठेगा।

८

सिन्धु घहराता हुआ चल रहा है, और हम स्लेटी-पत्थरोंके बीच एक पगडंडीसे चुपचाप चल रहे हैं—पैदल।

एक छोटेसे गाँवके किनारे हम आ गये। २५-३० घर होंगे। नीची छतें हैं, उनसे भी नीचे दरवाजे हैं। शाम हो गई है। हरित भीम-काय उत्तुंग पर्वतमालाओंकी गोदमें, इस प्रशांत-स्निग्ध संध्यामें, यह खेड़ा, इस अजेय-प्रवाहसे बहते हुए सिन्धुके किनारे, विश्वके इस एकांत, शांत, अज्ञात और गुप-चुप छिपे हुए कोनेमें, मानों दुनियाकी व्यर्थ व्यस्तता और कोलाहलके प्रतिवादस्वरूप, विश्राम लेता पड़ा है। प्रकृति स्थिर, निमग्न, निश्चेष्ट मानों किसी सजीव रागमें तन्मय हो रही है। यह खेड़ा भी मानों उसी रागके मौन समारोहमें योग दे रहा है।

इन मुट्ठीभर मकानोंसे अलग-थलग, जरा ऊँची टेकड़ी-सी पर एक नया ही छा-छू लिया हुआ झोपड़ा आया, और बुड्ढेने हमें खबरदार कर दिया। बुड्ढेने उँगली ओठोंपर रखकर संकेत किया,—हमको यहीं, चुप, ठहर जाना चाहिए। हम तीनों वहीं खड़े हो गये, मानों साँस भी रोक लेना चाहते हैं, ऐसे निस्तब्ध-भावसे।

तभी आवाज़ आई।—“ अभी नहीं, सबक़ ख़तम कर दो। तब चलेंगे।”

ओह, ललितकी आवाज़ है! डिकका तो कलेजा ही उछलकर मुँह तक आ गया। पर हम ज्यों-के-त्यों रहे।

एक भारी, अनपढ़, दबी,—मानों, आज्ञाके बोझसे दबी,—आवाज़में सुनाई पड़ा—

“ दिस इज़ ए चे....चेअर....”

“ हाँ, चेअर, ठीक, चेअर। गो औन।”

दो-तीन ऐसे लड़खड़ाते वाक्य और पढ़े गये और इसी प्रकार उन-पर दाद दी गई। फिर उसी बारीक़, उकसाती हुई और चाह-भरी आवाज़-में सुन पड़ा—

"अच्छा, जाने दो। चलो, दरिया चलें। लेट'स् गो।"

हम ओटमें छिप रहे। दोनों निकले। ललित और वह—वह कौन है? शकल ठीक नहीं दीख पड़ी, पर देखा, खूब डील-डौलका जवान है। पट्ठे भरे हैं, चालमें धमक है,—पर सबमें सादगी है।

ललितने उसके बायें हाथकी अँगुलियाँ थाम रक्खी हैं। उन्हीं अँगु-लियोंसे खेलती चल रही है।

मैंने बुड्ढेसे पूछा—"यह कौन है?"

"मेरा लड़का—पुरससिंह।" शायद पुरुषसिंह वह ठीक न बोल सका हो।

तब उस बुड्ढेने कहा—"आओ, चलें, देखें।"

हम चुप-चाप उसके साथ चले।

सिंधु सामने ही तो है। एक बड़ी-सी चट्टानके पास ऐसे खड़े हो गये कि उन दोनोंकी निगाहोंसे बचे रहें।

"यू, पोरस, वह क्या बह रहा है? लाओगे?—ला सकते हो?—कैन यू?" ललितकी आवाज़ सुन पड़ी।

"वाह क्या बात!—लो।"

ऊँची धोतीपर एक लम्बा-सा कुर्ता तो पहन ही रहा था। उतारा, और उस सिंधुके हिंस्र प्रवाहमें कूद पड़ा। लकड़ीका टुकड़ा था, किना-रेसे १५ गज़ दूर तो होगा, हमारे देखते-देखते ले आया।

हँसता-दौड़ता आया ललितके पास। बोला—"ले आया!—

बस ?—पर दूँगा नहीं। गीली चिकनी लकड़ी है, बुरी,—दूँगा नहीं।"
इतना कहकर फिर उसने वह लकड़ी भरपूर ज़ोरसे धारमें फेंक दी।

ललितने कहा—

"यू नॉटी,...."

मैं अपनेको सँभाल न सका। चट्टानके पीछेसे ही बोल पड़ा—

"यू नाटिएस्ट....!"

और बोलनेके साथ ही हम तीनों उसके सामने आविर्भूत हो पड़े।

"हल्लो, अंकिल!....एण्ड, ओह, हल्लो, यू, डिक! हाऊ ड'यू डू, डीअर डिक ?....एण्ड, ओह, माई डीअर फ़ादर!—व्हाट लक्!" *

कहकर उसने बुड्ढेका हाथ चूमकर पहले उसका अभिवादन किया।—"सी यू माई पोरस,—डिक ? किंग पोरस ऑव् हिस्ट्री, माइण्ड यू! इज़ ही नॉट एज़ फ़ेअर एज यू योर सॅल्फ़"×—डिकको वाग्वि-मूढ़ छोड़ पोरसकी ओर मुड़कर कहा—"माई अंकिल, मेरे चाचा, एण्ड दैट माई डीअर डीअर फ्रेंड डिक, और वह डिक, मेरा खूब प्यारा दोस्त!"

पोरस घुटने तक आई हुई गीली धोती और नंगा बदन लिये, डिक-अँग्रेज़ और मुझ जजके सामने, इस परिचयपर हँस दिया। मानों उसे हमारा परिचय खुशीसे स्वीकार है। रेख अभी नहीं फूटी हैं, बदन और चेहरा भरापूरा है, आँखें भोलेपन और खुशीसे हँस रही हैं। मुझे यह मूर्ति स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नतासे खिली हुई,—मानों गढ़ी हुई,—यह मानव-मूर्त्ति अरुचिकर न जान पड़ी।

---

* "अरे चाचा!...और, ओह डिक तुम भी! सकुशल हो न!...और, बाह, पिता आप भी!...मेरा कैसा सौभाग्य!"

× "मेरे पोरसको देखते हो, डिक ? वही इतिहासवाला राजा पोरस, याद है न ? वह क्या तुम जैसा ही सुन्दर नहीं है ?"

" पोरस, यू, चाचाको सिर नवाओ।"

उसने दोनों हाथ जोड़कर सभक्ति सिर नवाया।

तब डिकका हाथ बढ़ा। उसने पोरसका हाथ 'शेक' करते हुए कहा—

" पोरस, तुम राजा है। हम हारता है, और हम खुश है।"

वैसे ही पोरसके हाथको थामे हुए, ललितकी ओर मुड़कर उसने कहा—

" ललित, डीअर, आई कॉंग्रेच्युलेट यू ऑन योर ट्रैजर, ऑन योर विक्ट्री, ऑन योर किंग! इन ट्रुथ्, आई डू। हीअर'ज़ माई हैण्ड।" * और ललितका हाथ झकझोर दिया।

" लॉङ्ग लिव पोरस, आई से,—एण्ड आइ बि सेन्ड।"

माळूम नहीं, इसकी आवश्यकता थी या नहीं। जिन्हें भाग्यने मिलाया, जो नर्मदाके किनारेसे इतनी दूर यहाँ सिन्धुके किनारे आ मिले, उन्हें और क्या चाहिए था। फिर भी मुझसे उनका बाकायदा पाणिग्रहण करवाया गया।

बुड्ढा फिर मेरे यहाँ नौकर हो गया। पर पोरस और उसकी रानी अपने राज्यसे नहीं हटे और उन्होंने मेरी मदद भी नहीं ली। वह वहीं उस झोपड़ेमें, उस हरियाली और शान्तिकी गोदमें, और उस सिन्धुके तीर ही रहते रहे।

---

* " प्रिय ललित, तुम्हारी इस निधि, इस विजय, और तुम्हारे इन बादशाह-पर तुम्हें बधाई देता हूँ। सच, मैं बधाई देता हूँ, और शुभकामनाके प्रमाणमें यह लो मेरा हाथ।"—शेक-हैण्ड अभिवादनकी पाश्चात्य प्रणाली है, यह पाठक जानते ही हैं।

निर्मम



१

अभी सिंहगढ़ ४ कोस है। दस कभीके बज चुके। ठीक दस बजे तीनों घुड़सवारोंको शिवाजीकी हाज़िरीमें सिंहगढ़ पहुँच जाना चाहिए था।

शिवाकी बात टलती नहीं, टलती है तो अनर्थ हो जाता है। समय और कार्यका विभाग ही उसका ऐसा नपा-तुला होता है कि ज़रासे कामकी ज़रा ढील और ज़रा देर सारी स्कीमको ढा देती है, कार्य-सिद्धि (Achievements) की शृङ्खलाको ही विशृङ्खल कर देती है। और शिवा वह व्यक्ति है जो सब कुछ सह सकता है, असफलता नहीं सह सकता। जिसने फ़ेल होना जाना ही नहीं। जिसके जीवनकी डोर विजय-विजय-विजयके मनके पहनकर वह माला बनकर ही दम लेगी, जिसे इतिहासके अनुशील करनेवाले साहस-प्रार्थी व्यक्ति फेर-फेर कर धन्य होंगे। जो चाहता है, जिसमें हाथ लगाया है, वही यदि पूरा होनेसे रह जाय तो शिवा शिवा नहीं। कौन है, जो उसे पूरा होनेसे रोक ले। कहीं भी यदि उसे असिद्धि मिले, तो मानों वही उसकी मौत होगी। वह उस धातुका बना है जिसके अलौकिक वीर बने होते हैं। जिसका अलक्षेन्द्र बना था, जिसके अशोक, सीज़र, शार्लमान बने थे, और जिसका नैपोलियन बना था। जो धातु मुड़ना नहीं जानती, टूट भले ही जाय।

तीनों घुड़सवार जो घने जङ्गल, घने अँधेरे और घने कुहरेको, जमी हुई सन्नाहट और वैसी ही जमी हुई शान्तिको चीरते हुए, तेजीसे आगे बढ़ रहे हैं, शिवाजीके इस अकम्प शिवा-पनको मन-ही-मन, अनुभव-द्वारा, खूब जानते हैं। थक रहे हैं, हाँफ रहे हैं, बढ़े चले जा रहे हैं, आपसमें बोलनेका भी अवकाश नहीं ले रहे हैं,—यह देखने कि 'अब क्या बीतती है' वह, और हम भी, आत्माकी शपथ खाकर कह सकते हैं कि उन्होंने पूर्ण तत्परता, चुस्ती और मुस्तैदीसे अपना कर्तव्य निबाहा है। —किन्तु १० तो बज चुके हैं।

बीजापुरकी खबर लानेके लिए उन्हें भेजा गया था। त्र्यम्बक उनका नेता है, घोरपड़े और शिवराव उसके सहायक। त्र्यम्बक शिवाका बहुत ही अपना आदमी है, जोखम और विश्वासकी जगह उसे ही भेजा जाता है। उसे भेजकर शिवा मानों उस सम्बन्धमें बिलकुल निश्चिन्तता प्राप्त कर लेता है।

त्र्यम्बक बोला—'महाराज यदि न मिलें—?'

यह सम्भावना तीनोंहीके मनोंमें थी, किन्तु इतनी अनिष्टकर थी कि जैसे वह उसे स्वीकार करनेसे डरते थे। शिवरावने कहा—"ऐसा नहीं होगा।"

घोरपड़ेने भी कहा—"महाराज, हमारे संवादके लिए अवश्य प्रतीक्षा करेंगे।"

किन्तु त्र्यम्बकको सन्तोष नहीं मिलता। इन मुसीबतके दिनोंमें जब चारों ओर फैले प्रत्येक क्षण और प्रत्येक पगमें विपत्ति और विजय है, जब समयका ठिकाना नहीं है और ठिकानेका भी ठिकाना नहीं है, तब नियत दस बजेके बारह बज जाना कोई छोटी बात नहीं। वह इसी भारी भूलके बोझ और मनस्तापके नीचे मानों पिसा जा रहा है। उसने

कहा—"घोरपड़े, मालूम नहीं क्या हो गया हो। सन्देह नहीं, दस बजे महाराज वहाँ अवश्य होंगे, पर अब–?........बीजापुरमें ही हमको समाचार मिला था कि सिंहगढ़ आशङ्कासे खाली नहीं। न जाने किस पल धावा हो जाये?"

घोरपड़ेने उत्तरमें केवल घोड़ेकी चाल और तेज़ कर दी।

तीनों बढ़े चले। चुप—चारों ओर सन्नाटा भरी चुपचुपाहट थी। मानों नीरव प्रकृति, इन तीनोंके भीतर उबलती हुई आशङ्काको अपने व्यङ्ग-मौनसे और भी तीखी बना देना चाहती हो।

सिंहगढ़ पास आगया। अन्धेरेमेंसे उसके बुर्जके कङ्गारोंका आकार धीमा-धीमा चीह्न पड़ता था। तभी कोई उनकी राहमें आया, जिसने पूछा—कौन?

इस 'कौन' का स्वर और लहज़ा एकदम सशङ्क कर देनेवाला था। फिर भी त्र्यम्बकने दहाड़ा—

"ॐ, हर हर!"

उस व्यक्तिने झटसे चिल्ला दिया—'मारो काफ़िरोंको' और दल-के-दल दुश्मन उस अँधेरेमेंसे फट पड़े।

युद्ध छिड़ा। मराठे मराठे थे, शिवाजीके साथी थे,—यानी वीर थे, और साथ ही होशियार भी थे। फिर अँधेरेका संयोग मानों भाग्यने ही सामने ला धरा था। तीखी मार भी वे देते रहे, और पीछे अपना रास्ता भी बनाते रहे।

अपनी हानि और मराठोंके पीछे हटनेको देख दुश्मनोंने सन्तोष ही मान रखना ठीक समझा।

वे तीनों निरापद तो हुए किन्तु सिंहगढ़ तक पहुँचनेका इरादा अब

भी उनका पक्का ही रहा। सन्देह नहीं, उन्हें जगह-जगह ऐसी ऐसी ही मुठभेड़ करनी होगी,—किन्तु क्या इससे वह शिवाकी आज्ञासे मुड़ें?

मतलब कि कभी इधर और कभी उधर, इस तरह चारों ओरसे, सिंहगढ़ पहुँचनेका यत्न करते रहे। बीसियों हमले उन्हें सहने पड़े, और बहुत आहत हो गये। इधर रात भी बीत चली। किन्तु यत्न छोड़ें, तो मराठे कैसे?

अन्तमें थकानसे चूर हो गये थे, लोहूसे लुहान हो गये थे, फिर भी सिंहगढ़ पहुँचनेकी तदबीरमें लगे थे—यद्यपि बड़ी हताशाके साथ और जीवन-विसर्जनके पूर्ण विश्वासके साथ। तभी एक खेतिहरसे पता मिला, शिवाजी सिंहगढ़में नहीं है।

रात होते ही गढ़पर अचानक धावा हुआ था। दस, साढ़े-दस, ग्यारह बजे तक, कई गुनी शत्रुशक्तिके सामने शिवा गढ़को सँभाले रहे और ठहरे रहे थे। बहुतेरा कहा गया कि वह यहाँसे चलें। किन्तु ग्यारह बजेसे पहिले उन्होंने वहाँसे टलना कभी स्वीकार न किया। भेदिये चारों ओर तैनात रहते थे। जब ग्यारह बजेका यह समाचार लाकर उन्होंने शिवाको दे दिया कि एक मील तक त्र्यम्बक नहीं है, तब उन्होंने गढ़ छोड़नेमें फिर क्षण-भर देर न की।

त्र्यम्बक और उसके साथी इस सूचनापर, अपनेको प्रत्येक अनिष्ट और हर तरहके दण्डके लिए तैयार करके, लौट चले।

२

जङ्गलमें एक ऊँची सी टेकड़ीपर शिविर पड़ा है। किन्तु शिवा उससे अलग, बहुत दूर, आत्म-त्रस्त, आत्म-ग्रस्त और आत्म-व्यस्त भावसे कुछ सोचता हुआ टहल-सा रहा है। शिविरके कामसे निबट चुका है, सब-

ताकीदें दे चुका है,—इस तरह अवकाश निकालकर अब अपनेसे निब-टनेका काम वह, यहाँ सिर झुकाकर टहलता-टहलता, कर रहा है। सिद्धियों, सफलताओं, और विजयोंसे ठसाठस भरे हुए अपने व्यस्त जीव-नमेंसे, वह इसी तरह कभी-कभी कुछ घड़ियाँ चुराकर आत्मनिमग्नता पाया करता है। इन बहुमूल्य निठल्ली घड़ियोंमें, जो बड़ी कठिनाईसे मिल पाती हैं और बहुत थोड़ी देर ठहर पाती हैं, मानों उसके जीवनकी सच्ची अनुभूतियाँ, कसक उठनेवाली स्मृतियाँ और प्रज्वलित कर देने-वाली चिन्ताएँ,—मानो जीवनकी समग्र चेतनता,—अपने डोरे समेट-कर आ इकट्ठी होती है। तब वह डोरे फैलते है, उलझते हैं और सुल-झते हैं, किन्तु उतने सुलझते नहीं जितने उलझ जाते हैं। इन उलझ-नोंमें फँसकर शिवा बड़ी व्यथा पाता है। सुलझा तो सकता नहीं, क्योंकि सुलझानेका अवकाश उसके पास बहुत थोड़ा है, इसलिए उलझते रहने-में ही वह थोड़ा आनन्द ले लेता है। यह व्यथा जो मजेसे भरी है, और यह मज़ा जो टीस-सा चुभता है, यहीं, इसीमें पड़कर, शिवाको ज्ञात होता है जैसे जीवनके रसका थोड़ा स्वाद मिल रहा हो। नहीं तो उस खोखले, कृत्रिम, कर्तव्य-बद्ध, राजापन-प्रसिद्धि और प्रभुत्वके जगमगे ज़र्क़-वर्क़ आवरण पहने, रूखे जीवनसे उसे रह-रहकर उकताहट छूटती है।

उसे बहुत कुछ स्मरण हो आती है, वह माँकी गोद, जो अब नहीं रह गई है। उसके स्थानपर सिंहासन आ गया है। निर्जीव पत्थरका यह सिंहासन सजीव प्यारके माँके उस घोंसलेकी, मानों अपने मदमें, खिल्ली उड़ाता है—कम्बख्त सिंहासनसे शिवाके प्राण मानों एकबारगी ही चिढ़ उठते हैं। यह सारी प्रसिद्धि, वैभव और मनुष्यताका व्यङ्ग करते दीखते हैं।

उसे स्मरण हो आता है वह रक्त, जो उसने बहाया है। वे जानें, जो उसने ली हैं। उससे भी अधिक वे जानें, जो उसके लिए गईं हैं। जिन्हें उसने मारा है, और जो उसके लिए मर गये हैं, उनके बिलखते हुए कुटुम्बी और उन कुटुम्बियोंके अविरल ढुरकते हुए आँसू,—इन सबकी कल्पना, स्मृति और चित्र भीतरसे उमड़ते हुए और उसके जीको मरोड़ते हुए उठते हैं। उसे ज्ञात होता है, मानों उन सबकी हत्याओं और उन दुखियोंके दुखोंको कुचले हुए खड़ा है उसका राजा-पन !

और स्मरण हो आता है वह हृदयका वेग जो बच्चोंको देखकर उमड़ा पड़ता है। वह बाला, जो उसे बचाते-बचाते मर गई, इसलिए कि वह उसे अपना हृदय और अपना सर्वस्व देना चाहती थी। उसने उस हृद-योत्सर्गके अर्घ्यके अर्पणको स्वीकार किया और उसे कुचल दिया। और वह, जब औरङ्गजेबके यहाँ गया था, जो अचानक दीख गई थी और मिल गई थी,—जिसका प्रणय, वंश और धर्म, सभ्यता और समाजके सब बन्धनोंको लाँघकर उस तक पहुँचता है और इतना कि जिसके रस-में वह डूब जाय ! वह निसर्ग-शुद्ध प्रणय-रसकी धारा उसे याद आती है, जिसे वह छू नहीं सकता !

और सामने दीखते हैं पेड़, जो लताओंको चिपटाये झूम रहे हैं, हँस रहे हैं, मानों कह रहे है—'तुम बड़प्पनकी भूखमें रहो, इधर हम तुम-पर हँसते हैं।' और फिर मानों अपना मुकुट झुकाकर, फुसलाकर, चुप-केसे आवाहन दे जाते हैं—'व्यर्थतामें न पड़ो, आओ, हमारे साथ जीव-नमें निर्द्वन्द्व खेलो।' हरी-घास, छोटे पौधे, उभरा हुआ पहाड़, भागते-खेलते बादल, और उनके पीछे धूपकी मुसकानसे मुसकाता नीलाकाश, फुदकती चिड़ियाँ और चहकते पक्षी—सब, मानों अपने जीवनकी चुहल दिखाते हुए व्यंग कर रहे हैं—'यह है जीवन !'

शिवा इस रसको देख रहा है । देख-देखकर, क्योंकि इसे वह चख नहीं सकता, बड़ा झुँझला और कुढ़ रहा है । कैसा बेलाग बेदाम बिखरा पड़ा है यह रस !

उसकी फ़तहोंकी सूची उसे निकम्मी जान पड़ती है । सफलताओंकी लम्बी तालिका उसके मनको बोध नहीं दे पाती ।

जब उसका मन हार जाता है, स्मृतियाँ दबा लेती हैं, और ऐसी चिन्ताएँ अभिभूत कर लेती हैं, तब उसके एक-मात्र त्राण समर्थ गुरु रामदास याद पड़ते हैं । वह उनकी शरण गहेगा । अबके इस यश, वैभव, राजत्व, लड़ाई और हिंसाके मार्गसे मुक्ति पानेकी प्रार्थना करेगा । साधारण बन जाने और प्रेम करनेकी छुट्टी अबके वह भी गुरुसे माँग लेगा । व्यस्ततासे वह तङ्ग आ गया है, कहेगा—" गुरु, बहुत हो गया, अब मुझे छुट्टी दो । अब मैं स्नेहमें नहाऊँगा और जीवनमें खेलूँगा ।"

मनके इसी ज्वारको ज़रा शांत करनेके लिए वह टहलता-टहलता एक शिलापर बैठ गया । सन्ध्या चुपचाप सरकी आ रही थी । मानों अपनी अँधियारी साड़ीमेंसे थोड़ी स्निग्धता और शान्ति भी बिखराती आ रही हो ।

शिवाकी गोदमें एक टीड़ी आ पड़ी । शिवा उसे देखता रह गया । मानों वह अपनी धुनमें है, शिवाकी उसे खाक पर्वाह नहीं । मानों किसी नये खेलकी टोहमें जा रही है ।

शिवाने पकड़नेको हाथ बढ़ाया कि वह फुदककर भाग गई ।

सामनेसे एक चिड़िया उड़ी,—टि टी हु ई टी । और गाकर बैठ गई दूसरी चिड़ियाके पास । और वे दोनों चोंचें मिलाकर अभिन्न प्रेम-सम्भाषण करने लगीं ।

ऊपर एक बादलका टुकड़ा भागा जा रहा था—एक औरको पकड़ने। देखते-देखते वे दोनों मिले और आपसमें गुँथ गये।

शिवाने कहा—"अच्छा भाई, मिलो, मिलो। मैं भी अब तुम्हारी समाजमें आता हूँ।"

उस समाजमें उसकी प्रवेश-प्रार्थनापर कैसा स्वागत मिल रहा है, यह वह समझ पाये ही कि उसने सुना—'महाराज !'

मुड़कर देखा—एक युवक है। वह युवक उसके चरणोंपर आ पड़ा।

वह युवक है, नया है, फिर भी नया नहीं है। कुछ है उसमें, जो जाना-सा माल्रम पड़ता है।

फिर सुन पड़ा—'महाराज !'

इस वातावरणमें और इस नये प्रकारके उठे-हुए विचार-क्षेत्रमें शिवा अपना सर्दारपन भूल बैठा था। अभी उसे अपनेमें उस 'बू' को लानेकी जल्दी भी न थी। कहा—

'कहो भाई।'

युवकने कहा। क्या कहा सो शिवा न समझ सका। जो कहा गया था उसका आशय नहीं, उसका स्वर उसने सुना—वही उसने समझा और तब उसने गौरसे युवकको देखा।

युवकके सारे गातमें एक सिहरन लहराई, आँखें झपीं-सीं, और मामूली-सा सिंदूरियापन दौड़ गया। शिवासे यह छिपा-न रहा, और उसके भीतर एक गुदगुदी सी मच उठी।

"तुम्हें भाई नहीं कहना चाहता, बहन भी नहीं कहना चाहता। क्या कहूँ ?"—शिवाने हँसकर, कँपकर पूछा।

युवक, जो युवती था, शर्मा गया।

जङ्गल सूना था, पर शिवा मज़बूत था । फिर भी उसकी मज़बूती, पिछले विचार-प्रवाहसे, मानों पिघल उठी थी। यह हो नहीं सकता था कि वह मज़बूती रिसकर बह जाती, तो भी शिवाने उसपर विश्वास रखना उचित न समझा ।' पूछा—" हाँ, क्या चाहती थीं ?'

—" नौकरी ।"

" छिः । नौकरी किया करते हैं कहीं !"

" सेनामें नौकरी चाहती हूँ ।"

" मारनेका काम करोगी ? वह काम क्या तुम्हारे बसका है ? तुम्हें तो जीने और जिलानेका काम करना चाहिए । क्यों !"

" हाँ ।"

" सेनामें क्यों जाना चाहती हो ?"

" मारने नहीं ।"

" फिर ?"

" बचाते-बचाते मरना चाहती हूँ। आपको मारनेवाले बहुत हैं ।"

इतने साहसकी बात कहनेके पश्चात् मानों युवतीका साहस चुक गया । शिवाका जी पसीज गया । इस उत्कण्ठित उत्सर्गकी आकांक्षाको देख वह धन्य हुआ । किन्तु वह क्या इसके तनिक भी योग्य है ? उसे बस यही अधिकार है कि वह इस उत्सर्गको ले, और इसीपर अपने शरीरकी रक्षा प्राप्त करे । उसे अपनी स्थितिपर आन्तरिक खेद हुआ ।

उसने कहा—"बाई, यह क्या कहती हो ?—क्या जाने यह नौकरी ही न रहे, सेना ही न रहे । और फिर मेरा शत्रु बननेकी भी किसीको आवश्यकता न रहे । जाओ बाई, ऐसा ध्यान न करो । मेरी शपथ, जो ऐसी बात तुमने मनमें रक्खी । शिवाका जीना अभी बहुत भारी है । फिर तो उस जीवनको उठाना ही कठिन हो जायगा ।"

युवती शिवाके पैरोंमें पड़ गई । शिवाने उसे उठाया, कुछ कदम उसके हाथ पकड़े, उसके साथ गया, और बिदा किया, कहा—"मेरा मार्ग न बाँध दिया गया होता, तो क्या मै जान-बूझकर धन्य होनेसे बचता ? बाई, जाओ शिवा बड़ा अपात्र व्यक्ति है।"

*   *   *

वहीं, उसी शिलाखण्डपर बैठा था कि त्र्यम्बक अपने साथियों सहित उपस्थित हुआ।

"महाराज !"

"अरे, त्र्यम्बक !"

"क्षमा करें, महाराज !"

त्र्यम्बकने अपनी पूरी कहानी कही। शत्रुओंके साथ मुठभेड़ की और अपने घावोंकी बात बहुत संक्षेपमें बतलाई। फिर कहा—

"क्षमा करें, महाराज !"

शिवाने कहा—"त्र्यम्बक मैं वही मार्ग पकड़ना चाहता हूँ, जहाँ क्षमा ही क्षमा है। जहाँ क्षमा माँगनेकी आवश्यकता ही मिट जाती है। वह छोड़ना चाहता हूँ, जहाँ दण्ड ही दण्ड है । मैं थक गया हूँ। यह नित्यकी नई लड़ाई, खोनेको रोज नई जानें, और लड़नेको नई जानें, नये अपराध और नये दण्ड—मैं इन सबसे घबड़ा गया हूँ । मै चाहता हूँ, ये कुछ भी न रहें। हम-तुम भाई बन कर रहें, जैसे कि हम भाई–भाई हैं।–"

त्र्यम्बक, घबड़ाया—"महाराज !"

शिवाने कहा—"त्र्यम्बक, शिविरमें जाओ। बहुत कुछ करना है।

पर अच्छा है, यह सब करना-कराना शेष हो जाय । औरङ्ज़ेबकी सेना इधर बढ़ी आ रही है । उधर कुछ अपने लोग भी चारों-ओरसे हमें घेरनेके प्रयत्नमें हैं । इन सबको झिकाने और इनसे बचनेको क्या करना होगा, सो सब मैं कर आया हूँ । दक्षिणकी ओर एक टुकड़ी भी जायगी । बीजापुरकी स्थिति सुनकर कुछ करनेकी ज़रूरत होगी । वैसे भी, अपनी हालत और वहाँकी हालतको देखते हुए, तुरन्त कुछ कर बैठना ठीक नहीं । जहाँसे सहायताका वचन है, उसकी भी उचित प्रतीक्षा करनी ही चाहिए । इस तरह परसों तक हम यहीं हैं । तबतक कुछ भी आँच यहाँ तक पहुँच सकेगी—यह असम्भव है । इसलिए मैं आज श्री समर्थगुरुके पास जाता हूँ । परसों प्रातः ही यहाँ पहुँच जाऊँगा । कोई मेरे साथ नहीं जायगा । तुम लोगोंको तैयार रहना चाहिए । यदि श्री गुरुने मेरी प्रार्थना स्वीकार न की, तो परसों १० बजते-बजते सबको पाँच टुकड़ियोंमें बँटकर यहाँसे कूच कर देना होगा । ”

फिर हृदयकांक्षासे भीने स्वरमें कहा—“ त्र्यम्बक, मैं गुरुके पास छुट्टी माँगने जा रहा हूँ, जिससे इस झञ्झटसे हम सब मुक्त हों और प्रकृतिके सच्चे प्राणी होकर रहें । यदि इच्छा स्वीकृत हुई, तो तुम्हें सूचना दूँगा,—कोषमें जो कुछ है वह सब लोगोंमें बाँट देना और उन्हें विदा दे देना । मैं कुछ दिन गुरुके पास ही, और फिर किसी खेड़ेमें रहूँगा ।....”

त्र्यम्बकने कहा—“ महाराज ! ”

शिवाने कहा—“ जाओ, जैसा कहा वैसा करो । ”

त्र्यम्बक चला गया ।

३

श्री समर्थ गुरुके पास चरणोंमें।

"क्यों, शिवबा, क्या है?"

"गुरुवर, बड़े क्लेशमें हूँ।"

"क्लेश? कैसा क्लेश?—क्या फिर उकताहट उठती है? मैंने तुम्हें बताया, उकताहटका यह स्थान नहीं। कर्म अनिवार्य है और मनुष्य नितान्त स्वतन्त्र नहीं है। कर्मकी परिधिमें घिरा है, बस परिधिके भीतर स्वतन्त्र है। परिधिसे बाहर भागकर वह नहीं जा सकेगा। इसे वह अपना दुर्भाग्य समझे या सौभाग्य,—जगत्का तन्त्र ही ऐसा है।"

"भगवन्, कर्मकी अनिवार्यता तो मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु हँसना-खेलना भी तो कर्म है। प्यार करना भी तो कर्म है। जीवनके विनोदमें बह चलना भी तो कर्म ही है। पानी बहता है और खेलता है, चिड़ियाँ उड़ती हैं और चहकती हैं, पेड़ फलते हैं, फूलते हैं और झूमते हैं, सम्पूर्ण जगत् ही मानों आनन्दके सक्रिय समारोहमें तन्मय योग देता रहता है। फिर मेरे ही जिम्मे यह लड़ना-मारना क्यों है? बहुत-सी जीवनकी लहरोंको बलात् रोककर और अस्वीकार करके एक बनावटी कर्तव्यशासनमें बँधे रहना, जगत्के और प्राणियोंको छोड़ कर, मेरे ही लिए क्यों आवश्यक है? गुरुवर, मुझे इस निश्चल प्रकृतिको देखकर ईर्ष्या होती है, और अपने बन्धनोंपर बड़ी खीझ होती है।"

स्वामी रामदासने स्पष्ट देखा, शिवबाकी वितृष्णा सच्ची है, फिर भी मोह-जन्य है। जो सामने सरस दीख पड़ता है, उसीसे ललचाकर, अपनेमें यह विरागाभास उसने उत्पन्न किया है। वे बोले—"शिवबा, भूलते

हो। जिसको जिस तरह देखते हो, वह वैसा ही नहीं है। जो हँसता दीखता है, क्या मालूम वह उसका रोना हो। इसलिए दूसरोंकी हँसी-पर मत लुभाओ। खुद हँसना सीखो, और वह तभी सीख पाओगे, जब जो कुछ होगा उसीपर हँसोगे। दुखपर वैसे ही हँस दोगे, जैसे सुख पर। यह उकता उठना छोड़ दोगे। तुम, सम्भव है, मुझे मुक्त समझो। हाँ, मैं अपनेको मुक्त समझता हूँ। पर तुम भी यदि मेरी ही तरह हो जाओ, कोपीन धार लो और संन्यासी बन जाओ, तो आत्माका असन्तोष ही पाओगे। सबके मार्ग भिन्न भिन्न हैं, यद्यपि सबका अन्त एक है। वह मार्ग किसीके लिए भी मखमल-बिछा नहीं है, वह तो दुर्धर्ष ही है। जो उस मार्गपर चलना ही नहीं आरम्भ करते, उनकी बात छोड़ दो,—वे तो सचमुच उच्छृङ्खल रहकर जो जी-चाहा उसमें भूल रह सकते हैं। पर जो मार्गपर चलनेके अधिकारी हो गये, फिर उन्हें जी-चाहे-जो करनेका अधिकार नहीं रहता है। उनका तो मार्ग खड्गकी धारकी तरह एक-रेखा-रूप, निश्चित और सकरा बन जाता है। तुम्हारा मार्ग राजा-का है, मेरा मार्ग साधुका है। हम दोनोंकी पूर्णता और आत्मोपलब्धि अपने-अपने मार्गोंमें है। राजा संसारका साधारण गृहस्थी नहीं है, वह बड़े दायित्वोंसे बँधा है। इसलिए उसके कर्तव्य-अकर्तव्यकी परिभाषा गृहस्थके पैमानेसे नापकर नहीं बनेगी। उसे अधिकार नहीं, कि वह सहज-प्राप्य अपनी आत्म-तुष्टि ढूँढ़े, अपने विलासका आयोजन करे। क्योंकि उसे बहुतोंके सुखों और जीवनोंकी रक्षाका भार सौंपा जा चुका है। क्या अपने सुखोंको दूसरोंकी सुबिधाके लिए उत्सर्ग कर देनेका यह अधिकार प्रत्येकको मिलता है? इसके अधिकारी बिरले होते हैं। तो क्या तुम इस अधिकारसे विमुख होगे? तुम्हें कितना बड़ा उत्सर्ग करना पड़ रहा है, मैं जानता हूँ। जो चीज तुम्हें दुख पहुँचाती है, हिंसा, वही कर-

नेपर तुम बाध्य हो। यश, प्रतिष्ठा, जिससे तुम भागना चाहते हो, वे ही तुम्हें चिपटानी पड़ती हैं। यह महान् उत्सर्ग है, मैं मानता हूँ। किन्तु मैं समझता हूँ, शिवबा, यह विराट् उत्सर्गका अवसर—जो तुम जैसे बिरलोंको ही मिलता है,—तुम खोओगे नहीं।"

शिवाकी आत्माको इन शब्दोंसे बोध तो हुआ, पर हृदयकी व्यथा पूरी न मिट पाई। वह बोला—

—"महाराज, मैं नहीं जानता, पर जी बेचैन रहता है। करता हूँ, पर अकुलाये मनसे........।" "ठहरो" गुरुने कहा—"समझनेमें तुम्हें आयास और समयकी आवश्यकता होगी। इस बीच मेरा आदेश समझकर ही मानो। आदेशमें शङ्का न करो—पाप लगता है। जाओ—औरङ्गजेबकी सेना बढ़ रही है। ब्राह्मणोंका अपमान, धर्मपर अत्याचार और गौओंकी हत्या हो रही है। भारतकी भारतीयता खोई जा रही है। इसकी रक्षा करो।"

शिवा चरणोंमें पड़ा।—"भगवन्!"

—"जाओ, शिवबा, कर्म करो। शङ्का न करो, आकांक्षा न करो। निःशङ्कित आस्था रक्खो, निःकांक्षित कर्म करो।"

शिवा पद-धूलि लेकर चला गया।

४

टुकड़ियाँ बँट गई हैं। शिविर उखड़नेको है। सब अपने-अपने कामपर कूच करनेकी तैयारी कर रहे हैं। वही 'परसों' आ गया है और वही शिवाजी—लड़ाईका उत्कट, उद्भट, चपलाकी तरह चपल शिवाजी,—आ गया है।

तभी त्र्यम्बकका मुक़द्दमा हाथमें लिया। त्र्यम्बक पेश हुआ।

शिवा अब मानों कर्तव्य-ही-कर्तव्य है। हृदय जो भावनाका स्थान है, मानों शिवाने उसे बिल्कुल भुला डाला है। हाँ मस्तिष्क, जो विचार और विवेचनाका स्थान है, पूर्ण सजग है। बोला—

"त्र्यम्बक, तुम्हारा अपराध अक्षम्य है। मेरे निकट क्षमा वैसे भी अक्षम्य है। तुम्हें सबसे बड़ा दण्ड जो मैं दे सकता हूँ, देता हूँ। तुम घर जाओ, रहो, तुमसे और सेवा मैं नहीं ले सकूँगा।"

सचमुच दण्ड त्र्यम्बकके लिए इससे बड़ा न हो सकता था। वह सब कुछ कर सकेगा, पर शिवाको छोड़ना!—यह कैसे होगा? मौत मञ्जूर होती, पर यह तो उस स्वामिभक्तके लिए बिल्कुल असह्य ही है।

उसने बहुत विनती की। पर शिवाकी बात शिवाकी बात है, झुकेगी नहीं।

* * * *

वह,—वही युवक भी हाजिर हुआ। शिवाकी आँखोंमें सरसताकी झाईं भी नहीं है। केवल एक वस्तु है,—प्रभुत्व।

"नौकरी चाहते हो?"

"जी!"

"अच्छा।"

फ़ौजदारको इस नये सिपाहीको बाकायदा शपथ-पूर्वक भर्ती कर लेनेका हुक्म हुआ।

* * * *

लड़ाई हुई। धावा अचानकका था। शिवाका बचना असम्भव था,—पर भाग्य कहिए, बच गया। भाग्यको श्रेय देते हुए शर्म आती है। किन्तु एक छोटेसे अनजाने सिपाहीको श्रेय देनेका क़ायदा इतिहासका

नहीं है । कोई उत्सुक पूछे ही, तो इतना बता सकते हैं कि एक तलवारका भरपूर हाथ जो ठीक शिवाजीकी गर्दनपर पड़ता, और पड़ता तो कभी अकारथ न जाता, एक नये युवक सिपाहीकी पीठपर पड़ा ! वह सिपाही फिर ज्यादे देर तक जीता न रहा और उसके साथी भी भली प्रकार उसके गाँव-पतेका पूरा पता न चला सके । क्योंकि शिवाने तुरन्त लाश अपने खास शिविरमें मँगा ली थी, और फिर कोई बाहरी आँख उसपर न पड़ सकी थी ।

शिवाने उस लाशको क्या किया ? उसे आँसुओंसे तो भिगोया ही,—फिर क्या किया, नहीं कहा जा सकता ।



साधुकी हठ

चलते-चलते वह साधु एक घरके आगे ठहर गया। वह घर शहरके कोतवालका है, जो मुसलमान हैं। द्वारपर टाटका परदा पड़ा है।

साधुके लिए यह व्यवसाय और स्थान नया है। उसने सदा दी—माई, द्वारपर साधु खड़ा है, भीख दे।

भीतर आँगनमें स्वयं कोतवाल कुर्सीपर बैठे हुए हुक्का पी रहे थे। आवाज़ उनके कानोंमें पड़ी; पर उसका उत्तर देनेके स्थानमें वे इस फ़कीरी पेशेके बारेमें कुछ अप्रिय बातें सोचनेमें लग गये।

साधुकी आवाज़ फिर आई। उन्होंने सोचा, इस तरह बोल-बोलकर थककर खुद चला जायगा और इस निश्चिन्त निश्चयके साथ हुक्केकी नैंची, जो इस समय मुँहसे विलग हो गई थी, फिर उनके मुँहसे आ लगी।

परदा हिलता नहीं है और माईने कदाचित सुना नहीं है, मनमें यह सोच परदा उठा, साधु घरमें प्रविष्ट हुआ—माई, साधु आता है, भीख दे।

दारोग़ा इसके लिए तैयार न थे। साधुकी आवाज़को बढ़ती आती हुई सुन वह तनिक व्यस्त और निरस्त हुए। साधु आकर मकानके दालानके किनारे खड़ा हो गया। उन्होंने देखा, साधु खूब है, पूर्ण युवा है, बड़ा सुन्दर है। बदन कठोर बिलकुल नहीं है, जैसे सर्वदा आरामसे कपड़ोंमें छिपा रहा है। जैसे इस बदनको विलासकी आदत हो। सोचा, यह फ़कीर नहीं है, चालाक है।....समझा होगा, अन्दर कोई मर्द नहीं है....तभी चला आया....। ज़ोरसे बोले—क्या है?

साधुने कहा—फ़कीर आ गया है, भीख माँगता है।

दारोग़ाने कहा—देखता नहीं किसका घर है?

मतलब था कि दारोग़ाका घर है जिन्होंने एक-से-एक बदमाशको सीधा कर दिया है।

साधुने आते ही देख लिया था, कि एक मुसलिम गृहमें उसका आना हो गया है; लेकिन जब ऐसा हो ही गया, तो इसमें कोई विशेष अनौचित्य भी उसे नहीं जान पड़ा और वह दारोग़ाकी इस या किसी प्रकारकी ख्यातिसे परिचित न था। उसने कहा—हिंदू उसका है, मुसलमान उसका है। सब उसका है। सब साधुका है। साधु भीख माँगता है।

दारोग़ाने देखा, यह शख्स हठी है, दिलेर है, पक्का शरारती दीखता है। कुर्सीसे उठ खड़े हुए, एक क़दम आगे बढ़ आये, और बोले—भीख माँगता है, तो मकानके अन्दर घुस आया?....

साधुने कहा—अन्दर-बाहर सब उसका है। मकान-बन सब उसका है। साधु परदा नहीं रखता। वह भीख माँगता है।

दारोग़ाको यह अच्छा नहीं लगता था। साधुकी इस हठ-पूर्ण धृष्टताको कैसे बढ़ने दिया जाय? गर्मी ले आये, बोले—भीख-वीख यहाँ कुछ नहीं मिलती। समझे?

साधुने जैसे दारोग़ाकी उत्कट अनिच्छा और उग्रता न देखते हुए कहा—भीख दो, सबाब होगा।

साधुके शब्दोंमें जैसे चुनोती हो। साधुकी मुद्रा जैसे कह रही हो—आख़िर भीख तुम दोगे ही। तो दारोग़ाकी मर्ज़ी जैसे अपने बारेमें भी नहीं चलेगी! ज़ोरसे कहा—बदमाश!....बाहर निकल। और

दाहने हाथसे वह बाहर निकलनेका मार्ग दिखला दिया और सम्पूर्ण मुद्रासे यह जतला दिया कि ऐसा न करनेका परिणाम अच्छा न होगा।

साधुने, मानो मुस्कराहटको वाणीमें घोलकर कहा—भाई, गुस्सा बुरा होता है। फ़कीरको जरा भीख डाल दो। उसका भी भला होगा, और तुम्हारा भी।

लेकिन दारोग़ाकी जो मनःस्थिति थी, उसमें साधुकी प्रकृत ठंडक चिंगारी-सी जाकर लगी, उनका गुस्सा, जो अभी तक धूम्रावृत अग्निकी भाँति केवल भभक रहा था, अब भड़ककर ज्वालामय हो गया। आगे बढ़ आये और बोले—भीख लेगा भीख ?—ले! और एक जोरका चपत साधुकी कनपटीपर जड़ दिया। और लेगा ?—ले और। दो-एक और लगा दिये।

कौन कहे कि दारोग़ा तब नहीं समझ रहे थे कि वह बदमाशके साथ सिर्फ़ इंसाफ़का सलूक कर रहे हैं; लेकिन क्रोधोन्मत्तका न्याय क्रोधशून्यके लिए सदा जबरदस्त और स्पष्ट अन्याय ही है। मूर्च्छाग्रस्त और प्रमत्त व्यक्तिके लिए; इसलिए, दया और क्षमा ही प्रकृत न्याय है।

दारोग़ाकी धर्म-पत्नी चिकके पीछेसे यह देख रही थीं और उन्हें पतिका यह कार्य बड़ा बुरा लग रहा था। साधुकी तरफ़ उनका मन खिचा था या न खिचा था; किंतु पतिके दुर्व्यवहारपर वह एक दम साधुका पक्ष लेनेको इतनी उद्यत और विवश हो गई कि मुसलिम गृहस्थीमें पत्नीकी पाबन्दियाँ कहाँ तक हैं इसका ध्यान, पीढ़ियोंसे पड़ी हुई अपनी आदतके विपरीत, शिथिल हो गया। भीतरसे ही उन्होंने कहा—हें-हें! उसे मारते क्यों हो ? भूल हो गई बेचारेसे, जाने दो।

लेकिन क्रोधका तर्क और है। वह तर्क अतर्क्य है। जिसे बदमाश मान लिया गया, उसे 'बेचारा' कहना उस क्रोधको और क्रुद्ध करना नहीं तो और क्या है? उसी तरह कोप-पात्रको सहानुभूति देना, आगके शिकारमें और घी डालना है। बोले—तुझसे कौन पूछता है, बदजात?—और साधुपर कुछ थप्पड़ और दुहत्थड़ जहाँ पड़े, जमा दिये और उसे धकियाते हुए द्वारकी राह दिखानेका प्रयत्न किया।

किन्तु साधुने बाहर चले जानेकी आतुरता नहीं प्रदर्शित की और न प्रहारोंके प्रति कुछ असहनीयता।

इससे दारोग़ाका गुस्सा एक साथ ही कुंठित हुआ और तीखा हो गया।

इसी बीच, ढिठाई देखो, वह महिला अन्तःपुरकी परिधि और पाबन्दी तोड़ बाहर आ गई। क्रोधासुर दारोग़ाके हाथोंको वज्र-शक्ति प्रदान कर उनके प्रहार द्वारा साधुकी शान्ति और साधुके मुखको चूर कर देनेको ही था कि महिलाने दारोग़ाके हाथोंको पकड़ लिया। इस तरह उनकी उन्नति और उनकी इच्छामें यह आकस्मिक और अवैध व्यवधान पड़ गया।

महिला कह रही थीं—"छिः! छिः!, यह न करो। बहुत मार लिया। अब यह चला जायगा।....जा, भाई जा,....अरे, जा न।....छोड़ो-छोड़ो, क्या इनपर हाथ छोड़ते हो? ये इसके लायक भी तो नहीं, नाचीज़।...आओ, आओ।....जा रे, हट, भाग जा....।"

लेकिन यह सब कह पानेका अवकाश उन्हें नहीं दिया गया। क्रोधके पूर्ण स्वराज्यमें बातें करने, सुनने-समझनेकी इतनी फुर्सत नहीं रहती। उन्होंने एक झटकेसे हाथ छुड़ाया, उस हाथसे महिलाके केशोंको पकड़ा और पैरोंको प्रहार करनेके लिए स्वतन्त्र कर दिया। साथ ही मुखसे वह

अनर्गल और अश्लील वाक्-प्रवाह जारी किया, जिसका परिचय पानेकी आपको इच्छा नहीं होगी और मुझे भी साहस नहीं है। किन्तु उससे यह बहुत अंश तक सिद्ध होता था कि पत्नीके ऊपर जो सम्पूर्ण स्वत्वाधिकार धर्म और कानूनकी सहायतासे उन्होंने पाया है, उसको वह अक्षुण्ण बनाये रक्खेंगे, चाहे ऐसी-ऐसी दस जूतियोंको बदलना और फेंकना क्यों न पड़े, और चाहे उन्हें खुद ही क्यों न मरना पड़े, और यदि वह अपनी वफादारी सम्पूर्ण, सुरक्षित और इन दारोग़ाकी भक्तिमें सर्वतः संचित नहीं रक्खेगी, तो उसकी बोटी-बोटीका पता न चलेगा और साधुके प्रति उस कम्बख्तके जो भाव हैं, उन्हें वह खूब जानते हैं और सदा याद रक्खेंगे और उनका मज़ा और परिणाम वह उचित रूपमें उस कम्बख्तको देते रहेंगे।

मार जबरदस्त पड़ी। साधु अविचल खड़ा देख रहा था कि जो मार कदाचित् भाग्यने उसके लिए भेजी थी, जो उसके हिस्सेकी थी, यह महिला बीचहीमें अन्तःपुरसे आकर उसे अपने ऊपर ले लेती है। मानो यह भी उस विपद-हरण संकट-मोचन परमेश्वरके अनुरूप है, जिन्होंने जगत्को ज़हरसे बचानेके लिए उसे कण्ठमें धारण कर लिया। उस माँके प्रति साधुके हृदयमें दया क्या उठती, भक्ति उठी। वह विना हिले-डुले, निष्काम, क्रोधके पंजेमें आबद्ध अवश-कोमलताके इस दृश्यको देखता रहा।

किन्तु महिलाको इसकी चिन्ता थी। उन्हें खटका था कि कहीं पति फिर साधुकी ओर मुड़ पड़ें और उस बेचारेको ख्वाहमख्वाह और न मारें; इसलिए पिटते-पिटते कई बार उन्होंने सख्त शब्दोंमें साधुसे भाग जानेका अनुरोध किया।

साधु इसपर तुरन्त न चला गया। हाँ, इन अनुरोधोंका परिणाम यह अवश्य हुआ कि पतिदेवके कोपानलको और-और आहुति मिली

और महिलापर और-और तीखी मार पड़ी। अन्तमें महिलाने चिल्लाकर कहा—और कितना पिटवाएगा, मरवा ही डालेगा क्या, कमबख्त? चला क्यों नहीं जाता, जो मैं बच जाऊँ।

साधु तब लौट चला।

लेकिन शायद क्रोधका पेट अभी पूरा न भरा था। साधुके मुड़ते ही पत्नीको छोड़, दारोगा उधर बढ़े और पकड़कर लातों और घूँसोंसे साधुकी खूब मरम्मत करने लगे। उसके कपड़े फट गये। जगह-जगह नील उभर आये। नाकसे लहू आ चला।

अन्तमें साधुओंके सम्बन्धमें कुछ अत्यन्त उपयोगी उद्गारोंकी उद्घोषणाके साथ और विभिन्न भाँतिकी कर-पद-प्रहार-पूजाके साथ साधुको द्वार-बाहर कर दिया गया।

२

उसने फिर भीख नहीं ली। सीधा अपने स्थानपर आ गया।

शहरके बाहर एक देवालय था। वहाँ कुआँ था और निकट ही एक तिदरी-सी बनी थी। न-जाने कहाँसे आकर आज उसने बसेरा डाला था।

हाँथ-मुँह धोकर, लहूसे अपनेको स्वच्छ किया। कपड़ेपर जहाँ लहूके दाग थे, उन्हे धो डाला और अपने संक्षिप्त सामानमेंसे सुई-धागा निकाल फटे वस्त्रोंको सी लिया। ये आवश्यक कार्य करनेके बाद वह अपने कुशासनपर आ बैठा।

यह आज क्या हो गया? क्यों हो गया? क्यों उस व्यक्तिको क्रोधकी प्रेरणा प्राप्त हुई? कहाँसे प्राप्त हुई? मुझे देखकर क्यों उसमें क्रोध ही उकसा? मुझे देखकर क्यों नहीं उसमें कोई कोमल भावनाएँ जागीं?....... मेरे व्यक्तित्वने उसमें क्रोध सुलगाया, क्रोध भड़काया?....आह मुझमेंसे शान्तिकी स्फूर्ति उसे क्यों नहीं मिली?...कैसे हो कि मुझसे प्रत्येक

शान्ति ही पाये, आनन्द ही अनुभव करे? अपनेमेंसे क्या काट फेंकूँ कि ओछे भाव मुझे कारण बनाकर दूसरोंमें जागृत ही न हो सकें? मैं कब ऐसा बनूँगा? क्या ऐसा बन सकूँगा?...आह, अपने इस हीन व्यक्तित्वको कहाँ ले जाऊँ, जिसे समक्ष पाकर लोगोंको गुस्सा उठता है? क्या करूँ? ओह भगवन्, क्या करूँ?....

बैठे-बैठे साधुकी आँखें मिच गईं, और उनमेंसे आँसू आ ढरके।

...ओह प्रभु, क्या मैंने नहीं चाहा कि वह सब कुछ मुझमेंसे मिट जाय, जो तेरा नहीं है? क्या अपनेको तुझे सौंपकर तुझसे नहीं प्रार्थना की, कि मुझमें, मेरे रोम-रोममें, मेरे अणु-अणुमें, तू ऐसा रम बैठ कि किसी और भावको कहीं स्थान ही न रहे? तू मुझे अपना स्वीकार कर ले। क्या मैंने तुझे रोकर अपनी आत्माके अर्घ्यकी अंजलिको तेरी स्वीकृतिके समक्ष लिये बैठकर, तुझे सौ-सौ बार, हर-हर बार, विश्वास नहीं दिलाया कि समिधाकी भाँति यज्ञकी हुताशनमें भस्म होकर भी मैं तुझमें ही पहुँचना चाहता हूँ? ओह, मैं क्या करूँ, बता। तू ही आश्रय है। तुझसे ही प्रार्थना करना मैं जानता हूँ। सब कुछ खोकर मैंने बड़े यत्नसे यह प्रार्थना सीखी है। अब तो मेरे लिए तेरी यह प्रार्थना ही सब कुछ है। यही प्रेम है, यही श्रेय है, यही ज्ञान है। यही मेरी साधना है, और यही मेरी साधनाका साध्य है। प्रभु, भगवन्, मैं ऐसा नहीं रहना चाहता। मैं बिलकुल तेरा हो रहना चाहता हूँ। मेरे रोम-रोमसे हरेक तुझे ही प्राप्त करे, तेरी ही स्फूर्ति पाये; किसीको मुझसे क्रोधकी प्रेरणा न मिल सके। मेरी यह प्रार्थना क्या तू नहीं सुनता, मेरे मालिक? मेरे व्यक्तित्वको चीर-चीर करके, कतर-कतर करके, वह अंश देख ले और मुझे दिखला दे, जो तेरे अनुकूल अभी नहीं हो पाया है। मैं उसे दण्डित करूँगा, अनुशासित करूँगा। आज्ञा दे, मैं उसे भस्म कर दूँगा। मैं शपथ

करता हूँ, मैं तेरे समीप स्वीकृत होकर रहूँगा, तेरे दर्शन करके ही छोड़ूँगा, संपूर्ण रूपसे मुझे अपना बना लिये बग़ैर मैं तुझे छुट्टी नहीं लेने दूँगा।....मुझे आज्ञा दे, मैं सब कुछ छोड़ दूँगा। तेरी राहमें क्या मैंने सम्पदा नहीं छोड़ी? स्त्री नहीं छोड़ी? पुत्र-कलत्र नहीं छोड़े? घर-बार सब कुछ नहीं छोड़ा? सब जिसके लिए छोड़ा, उसे नहीं छोड़ूँगा। और तू भी मुझे नहीं छोड़ सकेगा। बस कह भर दे, बता भर दे कि तेरे सिवा अभी कुछ और भी मेरे साथ लगा है। सच मान, मैं उसे छोड़-नेमें देर नहीं लगाऊँगा। फिर क्या मैं समझता नहीं कि जिसे मैं छोड़-ना कहता हूँ वह छोड़ना नहीं, पाना है।....क्यों मैंने कुछ छोड़ा? धन क्यों छोड़ा? क्या इसी लिए नहीं कि जब मैं उसे अपना समझता था, तब और भी उसे अपना समझना और बना लेना चाहते थे और इस तरह मुझमें लोभ, दर्प और दम्भ पैदा होते थे और औरोंमें लालच, चोरी, झूठ और छल पैदा होते थे। उससे लोगोंमें तेरी नहीं, तुझसे विमुख प्रवृत्ति होती थी। तुझसे हटकर मेरी उसपर आँख रहती थी, और तेरे पुत्रों और अपने भाइयोंको विशुद्ध प्रेमसे मैं नहीं देख सकता था;—या संदेह और भयसे उन्हें देखता था, या कृपा और अनुग्रहके साथ। औरोंकी आँख तुझसे विमुख होकर उसपर गड़ी रहती थी; और वे मुझे अपने भाईको या तो भय, आशंका और खुशामदसे, नहीं तो द्वेष, ईर्षा और प्रवंचकतासे ही देख सकते थे। उस अवस्थामें उससे और मुझसे, मुझे और औरोंको भी पापकी प्रेरणा मिलती थी। स्त्री क्यों छोड़ी, और सब कुछ क्यों छोड़ा? क्या इसीलिए नहीं कि मैं अशुभ प्रवृत्तियों और उद्वे-गोंका कारण और केन्द्र होनेसे बच जाऊँ? कुछसे अपनेपनका मोह-मिश्रित प्यार और शेषसे द्वेष करनेकी लाचारीसे छूट जाऊँ? अशेषतः तुझमें हो जाऊँ? लेकिन मालिक मेरे, आज यह क्या होता है? सब

कुछ छोड़ बैठा हूँ, फिर भी पहले घरमें जिसमें भीख माँगने पहुँचता हूँ, द्वेष, क्रोध और कलह मचनेका कारण बनता हूँ। ओह, मैं जानता हूँ, वह छोड़ना पर्याप्त नहीं; शायद उस तरहका छोड़ना जरूरी भी न हो; लेकिन बता क्या करूँ ? तेरे बतानेके ही आसरे हूँ, तुझे छोड़ और कहाँ जाऊँगा ?....उस गन्दगीको, उस मायाको, उस मोहको और अविद्याको उँगली रखकर बतला दे, जो मुझमें छिपी बैठी है। जहाँ तेरा प्रकाश अभी नहीं फैला है, जहाँ अँधेरा है।.......मैं क्या करूँ, जिससे वह व्यक्ति उस क्रोधके परिणामसे धुल जाय, जो मेरे कारण उसमें पदा हुआ है ? उस बेचारेका अपराध नहीं। त्रुटि मुझमें ही है, जिससे वह अपराध उससे सम्भव हुआ। उसे पश्चात्ताप होगा, उसे क्षोभ होगा, उसे ख्याल होगा कि उसने व्यर्थ अपनी पत्नीको पीटा—उसकी आत्मापर एक भारी बोझ-सा रहेगा। वह बोझ उसपर क्यों रहे ? क्या करूँ कि उसकी आत्मा परसे यह बोझ उठ जाय; क्योंकि मैंने ही वह बोझ वहाँ रक्खा है। अपनी त्रुटिके परिणामको मिटा देना होगा, उसकी आत्माको आत्म-पीड़न और आत्म-त्रासके भारसे हल्का कर देना होगा; पर मालिक मेरे, बता उसके लिए क्या करना होगा ?....मै तुझसे ही पूछूँगा।....मैं तुझसे सब कुछ पूछूँगा। तू सब कुछ करता है और सब अच्छा करता है। यह तो ठीक है कि मै पीटा गया। जिस गुस्सेको मैंने जगाया, वह मुझे ही झेलना और मुझपर ही फूटना चाहिए था। अगर मैं गुस्सा पैदा कर सकता हूँ, तो उस गुस्से-की मार भी जरूर मुझपर पड़नी चाहिए; लेकिन उस माताको क्यों तू पिटने दे सका ? क्या मैं भूलूँ उस दृश्यको ? हृदयकी सहानुभूति उसका अपराध था; किन्तु यह औरोंके सुख-दुःखोंको अपना अनुभव करनेकी क्षमताकी एक सम्पदा ही तो तैने मानवी हृदयको दी है, वही उस माता-

के लिए विपदा बन गई !....यह क्या हुआ ? यह क्यों हुआ ? मैं भूले नहीं भूलूँगा—उस माँकी वह मूर्ति, जब मार खाते-खाते भी मुझे ही बचानेकी सोच रही थीं । कठिन उपसर्गमें भी जो तेरे मार्गपर अड़ी रहीं । जिन्होंने तेरी सम्पदाकी रक्षा की । जिन्होंने उसे क्रोधके हाथों हारने और छिनने नहीं दिया ।....ओह, क्रोधके प्रहार मेरी माँपर क्यों हुए ? उस सबका दोषी क्या मैं ही नहीं हूँ ? क्योंकि उस क्रोधकी जड़ मेरी त्रुटिमें है ।....हाँ मैं ही उसका दोषी हूँ ।....ओह, मालिक, कैसा अवहनीय यह मेरा दोष है ! इससे, भीतर अपने ऊपर बड़ी ग्लानि उपजती है । प्रभु, इससे कैसे मेरा उद्धार होगा ?—ओह, अब मैं समझा । तेरी दया अपरम्पार है । तूने माँको इसीलिए बीचमें भेजा कि मैं देख लूँ कि मेरी त्रुटि कितनी भीषण है और वह कैसे अत्याचारको जन्म दे सकती है । ओह ! मैं यह साफ़ देखता हूँ । मैं सह नहीं सकता । मेरे भीतर बैठा वह राक्षस यों दूसरोंके हाथों दुष्कृत्य बनकर स्पष्ट अपनी पूरी भीषणतामें मेरे सामने आ खड़ा हुआ है। ओह, मुझसे देखा नहीं जाता, झेला नहीं जाता । मेरा इससे उद्धार कर, त्राण दे । इसको मुझमेंसे उखाड़ फेंक । ओह मालिक, मैं इसे अब छोटा समझनेकी भूल नहीं करूँगा । माँके रूपमें जो अपनी त्रुटिके उत्तरदायित्वके भारीपनकी दीक्षा आगके और आँसूके अक्षरोंमें तूने मेरे भीतर खींच दी है, उसे भुलाऊँगा नहीं ।....ओह, मेरी रक्षा कर । संपूर्णतः अपना बना ले । तेरा प्रतिरूप, तू ही होकर मैं वहाँ विचरूँ । बस एक धब्बा रहूँ जो कि तेरी शुद्धतासे शुद्ध हो, जो स्वयं कुछ भी न हो, शून्य हो; जो बस तुझे चीन्हनेके लिए चिह्न हो, याद करनेके लिये आधार हो । मैं वह रहूँ जो सदा तेरी याद दिलाये, तुझे प्रकाशित करे, तुझे प्रतिष्ठित करे, तुझे संपन्न करे, जो तुझसे अभिन्न होकर रहे....

३

जब अगले रोज़ वह साधु फिर ठीक उसी वक्त, द्वारपर दो-तीन सदा देनेके बाद, भीख माँगने अन्दर चला आया, तो उन महिलाको बड़ा अचरज हुआ। आशंका भी हुई। वह नियमित रूपमें अन्तःपुरमें थीं। साधुका यों जान-बूझकर विपदमें भीतर घुस आना, उनकी समझमें न आया। वह बाहर दालानमें आ गईं और बोलीं—बाबा, तू यहाँ फिर क्यों आफत उठाने चला आया? कल क्या कम मार पड़ी थी? या मुझपर जो मार पड़ी, उसे कम समझता है?

साधुने कहा—मै अब यह घर छोड़कर और कहींसे कैसे भीख ले सकता हूँ, माई। आज क्या, कल क्या, आता ही रहूँगा। किसीको नाराज़ करके और नाराज़ छोड़कर जाऊँगा, तो अपने मालिकको कैसे मुँह दिखाऊँगा? जिनकी क्रोधकी मार खाई, उन्हींके छिपे प्रेमके टुकड़े खाऊँगा। इसके पहले मेरा संतोष कैसे होगा?—वह कहाँ गये हैं?....

साधुकी यह बात तो पूरी तरह समझमें नहीं आई; लेकिन जैसे जीको छू गई। मस्तिष्कके विवेचनमें तो वह आती भी कैसे? लेकिन नारी-हृदयकी वीणाके एक तारको साधुके शब्दोंकी ध्वनिने और ध्वनिके सङ्गीतने जाकर एक मृदु आघात दिया और वहाँसे आर्द्रताकी एक लहर उत्थित होकर काँपती हुई महिलाकी समग्र आत्मामें और वहाँसे फिर सारे वात-वलयमें फैल गई।

महिलाने कहा—कामसे गये हैं। आध-पौन घंटेमें आते होंगे; लेकिन तुम क्यों चले आये? मेरी बात मानो, जल्दी चले जाओ। मुझे अपनी फ़िकर नहीं, लेकिन तुम नाहक़ क्यों मुशकिलमें पड़ते हो? उनकी आदत तुम जानते नहीं। बड़े शक्की हैं। वैसे

बड़े अच्छे हैं; पर शक बड़ी जल्दी कर लेते हैं। ऐसी हालतमें फिर आपा भूल जाते हैं, और न जाने वह क्या-क्या कर बैठते हैं। मैं कहती हूँ, भई, तुम चले जाओ। मुझे बड़ा खटका लगा है। कलकी ही बातपर मेरा जी बड़ा दुख रहा है। देखो, मैं तुमसे कहती हूँ कि तुम मेरी तरफ़ देखकर उन्हें माफ़ कर देना। उनपर नहीं, तो मुझपर तरस खाकर उन्हें माफ़ कर देना। जो हो गया, उसे याद मत रखना और उनकी तरफ़से कुछ बुराई मनमें मत लाना। वह क्या करें, आदतसे लाचार हैं। वह न जाने कभी-कभी किसके वस हो जाते हैं, सो यह सोचकर कलकी बात मनमें मत बिठाना। और देखो, अब तुम चले जाओ। वह आकर तुम्हें देखेंगे, तो गुस्सा हो सकते हैं। वह ऐसे ही हैं। सो, तुम मुझपर मेहरबानी करके चले जाओ।

साधुने कहा—मैं बाहर दरवाज़ेपर बैठता हूँ। आध घंटेमें वह आयेंगे न? मैं घंटे-भर तक बैठ सकता हूँ। उनके हाथके मुहब्बतके टुकड़े पाकर ही मैं मानूँगा।

साधु मुड़नेको हुआ। महिलाने रोकते हुए कहा—बाहर बैठोगे? बाहर क्यों बैठोगे? नहीं, चले जाओ, यहाँ मत रहो। तुम मुझपर तरस नहीं कर सकते? मुझपर तरस खाकर मेरी यह बात नहीं मान सकते? ऐसी तुम्हें क्या ज़िद है। मेरे घरमें जो खानेको है, मैं सब तुम्हें देती हूँ, फिर तुम यहाँ ठैरोगे किस वास्ते? रहम करो, हाथ जोड़ती हूँ, चले जाओ।

साधुने कहा—चला तो जाऊँगा ही; लेकिन एक घंटे ठहर सकता हूँ। और तुम्हारा दिया लेनेसे तो मेरा जी मानेगा नहीं। मुझे तो वह देंगे और प्यारसे देंगे। वही दें, इसका मुझे बड़ा लालच है। क्योंकि कलकी बातको मैं भूल जाऊँ, मेरे लिए यही काफ़ी नहीं है, वह भी भूल

जायँ, इसका भी इंतज़ाम मुझे ही करना है; क्योंकि कुसूर दरअसल मेरा था।

महिलाने देखा, साधुका तर्क और साधुका इरादा साधारण नहीं है। लेकिन पतिकी ओरसे उनके जीमें खटका खटक ही रहा है। बोलीं—मैं तुम्हें अब कैसे समझाकर कहूँ? यह मैं तुम्हारे लिए नहीं, अपने लिए कह रही हूँ। अपने लिए इसलिए कह रही हूँ कि जिससे उन्हें फिर ऐसा गुनाह करनेका मौक़ा न मिले। तुम्हें देखकर वह अपने बसमें न रहे और कुछ कर बैठे, तो इससे तुम्हें क्या फ़ायदा होगा, और उनपर पाप चढ़ेगा। मैं इसीसे कहती हूँ, खुदाके लिए तुम चले जाओ।

साधुने कहा—अगर खुदा मुझसे अभी तक नाराज़ हैं, अभी तक नापाक हूँ, तभी ऐसा होगा कि मेरी वजहसे किसीसे बेजा काम हो सके। और तब ऐसा होना ठीक भी है; क्योंकि तब मुझे खुदाकी इबादतकी ज़रूरतका एक सबूत और मिलेगा।

महिलाने कहा—अगर तुम मेरी बात नहीं मान सकते, मेरी भीख भी नहीं ले सकते, तो मैं कहती हूँ कि तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं है। और मेरी दरख्वास्त नहीं मानते, तो मुझे घरकी मालिकनकी हैसियतसे कहना पड़ता है कि तुम यहाँसे चले जाओ।

महिलाने यह क्यों कहा?

साधुको चलना था ही, चलने लगा। लेकिन महिलाने रोककर कहा—जाते कहाँ हो जी? कौन कहता है तुम्हें जानेको? ठहरो, मुझे एक काम है तुमसे, जाना मत, मैं अभी आई। कहकर वह अंदर चली गई। साधु रुककर स्थिर खड़ा रहा। इतनेमें एक दरी लेकर वह आई, उसे बिछा दिया, कहा—ठैरोगे ही, तो ठैरो; और आरामसे यहाँ

बैठो। बाहर क्यों बैठोगे? वह आयेंगे और देखेंगे ही तो देखें। लेकिन बाहर दरवाज़ेपर बैठनेका क्या मतलब है? मैं उनसे कह दूँगी कि मैंने ही बैठाया है। कुछ हर्ज है बैठानेमें?

लेकिन साधु खड़ा ही रहा। महिलाने कहा—बैठो। बैठते क्यों नहीं? पसो-पेश मत करो। यह बदकिस्मती है कि तुम कुछ खाओगे नहीं। मेरी बात तुमने कुछ नहीं मानी। मैंने चले जानेकी दरख्वास्त की, तुमने ठैरनेहीका फैसला रक्खा। भीखके लिए आये; मैं कुछ देती हूँ, तो इन्कार करते हो। अब तुम्हारे ठैरनेकी राज़ीमें राज़ी होकर यहाँ बैठनेको कहती हूँ। बैठो-बैठो, यों खड़े न रहो।

साधुने कहा—दिक्कत उठानेसे पहले मुझसे पूछ क्यों न लिया? मैं यहाँ कैसे बैठ सकता हूँ? मुझे तो दरवाज़ेपर ही बैठना होगा।

और यह कहकर वह दरवाज़ेकी ओर मुड़ लिया।

महिला अपनी आशामें इतनी निराश हुईं कि बोल नहीं सूझा, देखती रहीं। साधु बाहर हो गया कि वह भी लौट आईं और कार्यमें व्यस्त होनेकी चेष्टा करने लगीं।

कई बार दरवाज़ेपर दिखवाया। साधु प्रकृतिस्थ प्रतीक्षामें बैठा था। और वह किसी-न-किसी काममें लगी रहनेकी चेष्टा कर रही थीं; लेकिन दारोग़ा आये नहीं। अब तो घंटा भर होने आया। उन्हें क्या हुआ, क्यों नहीं आये? साधुको बड़ी दिक्कत हुई।

पाँच मिनट पहले ही नौकर साधुके यथावत् बैठा होनेकी ख़बर देकर गया था कि फिरसे देखने भेजा गया। लेकिन अब वहाँ साधु न था। नौकरने यह सूचना उन्हें लाकर दे दी। वह 'अच्छा' कहकर नौकरको विदा दे, हाथका काम छोड़ कमरेमें तनिक तीव्र गतिसे टह-लने लग गईं।

४

दारोग़ा जल्दी क्यों नहीं लौट सके, इसका ठीक कारण बतलाना कठिन है। लेकिन घर जानेको जल्दी जी नहीं होता। जैसे घरमें पत्नीका मुक़ाबिला होगा, सो कैसे होगा, मनका यह सोच उन्हें घरसे दूर ही रहनेको कहता है। क्रोधका नशा जबसे उतरा, तबसे तबीयत गिरी-सी रहती है। मन कुछ ख़ाली-ख़ाली-सा लगता है, और वह सीधा होकर नहीं बैठ सकता, ठीक तौर पर किसी काममें नहीं लगता। जैसे भीतरसे कुछ सुख नहीं मिल रहा हो, और मन जैसे सुखके अभाव, भीतरके इस अभावमय शून्य (void) के चारों ओर ही मँड़रा रहा हो। उसे व्यस्त रखना कठिन है, और वह व्यस्तता चाहता है। व्यस्तता ढूँढ़नेमें और कुछ नहीं, तो वह ऐसे बहाने पा और बना लेना चाहता है कि जिनके कारण फिर नशा चढ़ जाय। यह हालत होती है, जहाँ नशेबाज़को फिर नशेकी हिरस सताती है। गिरी तबीयतका सामना उससे नहीं किया जा सकता और फिर पहलेकी नशेकी हालतके आमंत्रण और आकर्षणमें वह आँख मींचकर बह पड़नेको तैयार हो जाता है। दारोग़ा मानों अपने क्रोधके कारण ढूँढ़ रहे हैं। अपनेको बहलानेको मन यह काम निकाल लेता है; क्योंकि क्रोध अंतरमें जो एक गहरा रिक्त छोड़ गया है, उसमें झाँकनेमें दर्द और डर होता है, और झाँककर कुछ हाथ नहीं आता। यह भी नहीं हो सकता कि इस रिक्तके सम्बन्धमें चिंतित न हों; क्योंकि कहीं रिक्त क़ायम रहने देनेकी छूट प्रकृतिने अपने नियममें नहीं रक्खी है। यह काम यत्नपूर्वक, जान-बूझकर करनेकी उनमें क्षमता नहीं है। इससे सस्ते नशेमें फँसकर इस ख़ालीपनके भाव (Consciousness) से त्राण पानेकी ओर स्वभावतः उनकी वृत्ति हुई है। उन्हें अपने बचाव करनेकी आवश्यकता होती है; क्योंकि एक

तरहका असन्तोष उन्हें अपने आपको दोषी मनवाना चाहता है। वह इसके विरोधमें तर्क ढूँढ़ते हैं, और इस निश्चयपर आ जाना चाहते हैं, कि जो किया उसमें कोई हर्ज नहीं है। जो असन्तोष भीतरसे रोष बनता हुआ-सा उठता है, उसकी चोट आप ही अपने ऊपर नहीं लगने देना चाहते, बुद्धिके जोरसे उसे मोड़कर साधु और अपनी पत्नीके ऊपर ढाल देना चाहते हैं। इसमें कुछ कृत-कार्य होते हैं, कुछ असफल होते हैं, और इस द्वन्द्वावस्थासे तङ्ग होते हैं। जैसे दो ओरसे उनका चित्त ऐसा खिंच रहा है कि बस 'त्राहि' पुकार रहा हो।

कुछ कामसे घर छोड़कर अगर आये भी थे, तो उन्हें उसका ध्यान न था। तबसे ही जबसे साधु घरसे टला, और क्रोधका जो ज्वार आया था, वह उतरनेको लाचार हो गया, और पत्नी उन्हें अपनेसे निबटनेको स्वतन्त्र छोड़ अपने कमरेमें आकर पलंगपर पड़ गई—तबसे ही कुछ काम पाकर इस घरसे निकल जानेकी उन्हें जल्दी थी। तबसे ही वह बाजारमें कभी इससे मिल और उससे बोल, कभी यह कर और कभी वह कर, इस तरह, विना क्रम और पद्धतिके घरके बाहर समय काटनेमे लग गये थे। चुपचाप शामका खाना खाकर, अपनेको फुर्सत न देनेके ख्यालसे फिर यार-दोस्तोंमें पहुँच गये थे। अत्यन्त उच्छृंखल आनन्दमें अपनेको वह वहाँ भुलाये रहे थे। बहुत रात बीते ऐसी हालतमें घर पहुँचे थे, जिससे नींद आ जानेमें देर न लगे और इधर-उधरकी बातों-को तंग करनेका अवकाश न मिले। आखिर अगला दिन जब आ ही गया और नींद जो बहुत देरमें उन्होंने तोड़ी टूट ही गई और घरमें किये जानेवाले नित्य-नैमित्तिक कर्म भी समाप्त हो ही गये, तब फिर घरसे बाहर निकल गये। कह गये, जल्दी ही लौटूँगा; लेकिन बाहर आकर जल्दी लौटनेकी चाह न रही, चाह तो कहते वक्त भी न थी।

पत्नीने भी इस सम्बन्धमें धोखा न खाया। पहले तो उन्हें आशा थी कि पतिको अपने कृत्यपर आताप होगा और वह शांति और क्षमाकी याचना करने उनके पास आएँगे। यह आशा बिलकुल न होती, तो वह सीधी जाकर पलंगपर न पड़ सकतीं; किन्तु यह आशा जिसमें रस था, जो फूलकी तरह आँसू, या ओसके एक कण-का अभिषेक पानेके लिए, उद्यत-मुख, मुकुलित आकांक्षा मनमें दुब-काये, अपने सौभाग्य-चुंबनकी प्रतीक्षामें यों चुपचाप एक ओर आकर बैठ गई थी,—वह आशा अतृप्त रह कर कुंठित हो गई। दस-पन्द्रह मिनट हो गये, तो पत्नी समझ गई, अब वह न आएँगे और अकेले भी न रहेंगे, वह अब यार-दोस्तोंमें पहुँचेंगे। वह उस आशाके शव-को मनमें लेकर काममें लग गईं। उन्हें सन्देह नहीं रहा कि जब तक बादल कोई टक्कर पाकर पानी बनकर बरसेगा नहीं, तब तक पति उसे दोस्तों-की चुहल और कामोंकी व्यस्ततामें ही उड़ा देना चाहेंगे। अनुताप, जो पतिको खींचकर उनके चरणोंमें ला सकता था,—जब उनके पैर ओठोंसे चूमे जाते और आँसुओंसे धोये जाते और वह प्रेमकी सिसकमें पानी बनकर बह जाता,—उस अनुतापसे अब और ही राहसे छुट्टी पाने-की कोशिश की जा रही है, उसे आमोदमें उड़ाया जायगा और शरा-बमें बहाया जायगा। यह सोचती थीं और मनमें कड़वाहट फैलती थी। वह अपने काममें लगी रहीं, जैसे पतिकी ओरसे बिलकुल उदासीन हों। उनको छेड़ने या उनको मोड़नेकी उन्होंने चेष्टा नहीं की, जैसे उस प्रकारकी उन्हें चिन्ता या इच्छा नहीं है। चाहो तो और मार सकते हो; लेकिन मुझे तुमसे कुछ मतलब नहीं—इस भावसे वह हरेक काम करने लगीं।

लेकिन अगले दिन आ पहुँचा वह साधु फिर। तब वह नारि-सुलभ

कोमलता, जो पतिके दुराचार और दुस्साहससे ठेस पाकर भीतर बेकल हो रही थी, अनुरूप आधार पाकर व्यक्त होने लगी। उसने अपनेको साधुके प्रति अनुकंपा और उसकी रक्षाके प्रति व्यग्र सचिंततासे भरा पाया। उसने इसीलिए साधुको ऐसे अनुरोध-पूर्वक चले जानेको कहा; लेकिन साधु गया नहीं। तब पतिके प्रति जो कड़वाहट उसमें फैल रही थी, उसने साधुके ठैरनेके निश्चयमें एक संयोग देखा। कुछ ऐसा भाव कि हाँ, मैं बैठाती हूँ, कहें-तो-कहें, करें-सो-करें—उसके भीतर गुदगुदी मचाता हुआ उठ आया। जैसे अपने प्रति अपने विश्वास और पतिके अविश्वासको इस मौक़ेको बीचमें डालकर आपसमें लड़ाकर, अपनी विश्वसनीयता और अपनी हठ कायम करनेकी स्पर्धाकी-सी चाह उसे हो आई। तब उसने साधुको बैठानेमें सहमति नहीं, उत्सुक अभिलाषा प्रदर्शित की; लेकिन सो भी न हुआ। साधु भीतर नहीं बैठा, द्वारपर चला गया। फिर यही सोचकर उसे कुछ सुख मिला कि वह आयेंगे, साधुको बैठा देखकर बिगड़ेंगे; लेकिन क्या कर लेंगे? लेकिन साधु चला गया और वह नहीं आये। यह तृप्ति भी उसे न मिली। तब उसने सोचा कि उनके आते ही मैं सब कह दूँगी। कहूँगी कि मैने उसे बैठनेको कहा था और वह घंटा-भर यहाँ बैठा रहा।

५

आखिर खानेके वक्त वह आये। खा रहे थे, उसी समय पत्नीने सूचना दी—वह फ़कीर फिर आया था।

वह उसी तरह मौन-पूर्वक खानेमें संलग्न रहे।

"....और मैने उसे तुम्हारे लिए बैठाये रक्खा...."

पतिने कहा—उसके आनेका क्या काम था ? उसकी शामत ही खींच लाई होगी।

स्त्रीने कहा—और मैंने उसे सब कुछ दिया....

" तो मुझसे क्या बखानने बैठी हो ? जैसे बड़ा सबाब किया।"

"....लेकिन उसने कुछ नहीं लिया।"

पति चुप।

" और मैंने उसे यहाँ दरी बिछाकर बैठाया...."

" तो मैं क्या करूँ ? बड़ी तारीफ़का काम किया न ?"

" लेकिन वह बैठा नहीं। वह दरवाज़ेके बाहर बैठा रहा।"

पति फिर चुप हो गये। यह सब बातें ऐसी लगीं, जैसे उनके फ़ैसलेको काट रही हों। उनके फ़ैसलेका आधार था कि साधु बदमाश है, बदनीयतीसे आया था। यह बातें इसके ख़िलाफ़ जाती मालूम होती हैं। उस आधारपर आघात करतीं और उसे खिसकाती हैं।

स्त्रीने कहा—सुनो। तुम चाहे कुछ समझो, वह साधु वैसा नहीं है। वह कहता था कि वह तुम्हारे हाथसे ही कुछ लेगा। जब तक तुम उसे नहीं दे दोगे, तब तक वह किसीसे कुछ लेगा ही नहीं। वह तो ऐसा है और तुम ऐसे हो कि ज़रा-सी बातपर उसे इतना मारा और मुझे इतना मारा। ज़रा-सी बातपर गुस्से हो जाते हो।..."

" हाँ, हो जाता हूँ गुस्से...."

" लो, इतनी-सी ही बातपर बिगड़ने लगे।"

" हाँ, बिगड़ने लगा।—तो तुम्हारा क्या ? तुम्हारी सीख तो ख़तम हो गई !"

" मैं सीख क्या दूँगी ? खुद सोचोगे, तो यही ठीक लगेगा। यों बिगड़ने लगना अच्छा नहीं होता।"

"बस खतम करो, यह पचड़ा। बहुत हुआ। आरामसे खाने भी नहीं दोगी ?"

"फ़क़ीर कह गया था कि वह कल फिर आयेगा। जब तक तुम्हारी यह आदत नहीं छूटेगी, तब तक आता रहेगा। वह तुम्हारे सिवा और कहींसे भीख नहीं लेगा।"

बार-बार यह फ़क़ीरका राग सुननेको पति तैयार नहीं हैं। माना वह ठीक होगा; पर दुनियाकी और कोई बात ही नहीं रही उसके अलावा, जो उन्हें इस तरह तंग किया जा रहा है। बोले—नहीं लेगा तो नहीं लेगा, बस! मर जायगा।—हाँ, फ़क़ीर, फ़क़ीर! फ़क़ीर क्या हो गया बला हो गई!

इस तरह अपनेको खुले रूपमें प्रकट करके चुप हो गये।

पत्नीको नाराज होनेका कारण न था। उन्हें तो एक तरहका वैसा कुछ सन्तोष मिल रहा था, जैसा बालकको बोलनेवाले खिलौनों-को पीचकर उन्हें बुलवानेमें। अन्तर यह था कि बालकको ज्ञान नहीं होता कि उसके दबाने और पक्षीके बोलनेमें क्या सम्बन्ध है, और महिला ऐसी बातें सुननेहीके लिए छेड़ रही थीं। वह यह तो जानती ही थीं कि अब पतिके लिए साधुको मारना उतना सम्भव, आसान और प्रिय कार्य न होगा। जैसे पतिका क्रोध पत्नीको शारी-रिक प्रहार देकर तुष्ट होता था, वैसे ही उसके एवज़में, उसीका लगभग समकक्ष, पत्नीमें एक स्त्रियोचित भाव था, जो पतिकी यह मानसिक कुलबुलाहट और आक्रोश देखकर तुष्टि पाता था, या यह कहिए कि अबलका क्रोध था जिसका ज़हर निकाल डाला गया था।

पत्नी, फिर और नहीं बोलीं। और पति उस भिखारीकी ओर

अत्यन्त उपेक्षा और निश्चिन्तताके कारण नहीं, वरन् उसके कल फिर आनेकी सूचनामें अत्यन्त व्यस्त-ग्रस्त और चिंतित होनेके कारण, कुछ नहीं बोले। और खाना खाकर, दरवाज़ेके बराबरवाली अपनी बैठकमें आकर बैठ गये।

यह फ़क़ीर कहाँका आ गया ? स्त्रीके साथ अब वह ठीक तौरपर बातें करने लायक़ भी नहीं रहे। उसके साथ जो अभिन्न हेल-मेलका सम्बन्ध था, उसमें तनाव आ गया है। वह मानो अब जम गया है, और बर्फ़की नाईं बीचमें पड़कर उन दोनोंमें ऐसा व्याघात उपस्थित करता है कि समझ नहीं पड़ता कैसे टूटेगा। इस अन्तरको बीचमें पाकर ऐसा लगता है कि उनकी स्त्री उस पार है और वह इस पार। पहले घुले-मिले, अभिन्न एक दूसरेके प्रति सर्वथा प्रत्यक्ष और खुले थे—न-जाने कैसे थे ? अब जैसे वह अलग हो गई है और यह अलग रह गये हैं। और दोनों एक दूसरेके लिए अजनबी हुए जा रहे हैं।.... एक राह चलते फ़क़ीरको लेकर यह हम लोगोंने क्या कर डाला है ? हमने क्या, मैंने किया है। उस फ़क़ीरके बहानेको लेकर मैंने जैसे स्त्रीको धक्का देकर दूर कर दिया है और अब उस दूरीको ख़ुद लाँघकर उसके पास पहुँचनेका मैं साहस नहीं कर रहा हूँ। वह साधु हम लोगोंके जीवनमें गड़बड़ और कलह डालने न जाने किस बुरी सायतमें चला आया कि अब पीछा ही नहीं छोड़ता। कल आयेगा, तो मैं बाहर-ही-बाहर समझाकर या तो, नहीं तो दुरुस्त करके वापस कर दूँगा, और लौटकर अपने गृहस्थ-जीवनके शान्त तलपर जो विक्षुब्धता आ उठी है, और जो सलवटें पड़ गई हैं, माफ़ी माँगकर या जैसे होगा, उन्हें ठीक कर दूँगा।

यह सोचकर उन्होंने कुछ स्थिरता पाई।

६

अगले दिन प्रतीक्षामें रहे। वह आता दीखा, तो आगे बढ़ रास्तेमें ही उसे मिले—"कहाँ जाते हो?"

"तुम्हारे पास आता था.... "

"मैं यह हूँ। मुझसे तुम्हारा कोई काम नहीं। मैं कहता हूँ, लौट जाओ।"

"भीख लेने आता था। भीख नहीं देते, कहते हो लौट जाओ, तो लौट जाता हूँ।"

इतना कहकर वह लौटनेको हुआ।

"अच्छा, ठैरो....।"

वह ठैर गया।

उन्होंने पूछा—कल तैने भीख कहाँ पाई?

"तुम तो थे नहीं घरपर, किससे पाता?"

"मुझसे ही लोगे?"

"और किसीसे कैसे ले सकता हूँ?"

"मैं न दूँ तो...."

"भगवान्‌की मर्ज़ी।"

"भगवान्‌की मर्ज़ी! मेरी मर्ज़ी नहीं?"

"तुम्हारी मर्ज़ीमें भगवान्‌की ही मर्ज़ी है।"

"मैं न दूँ, तो तुम भूखे रहोगे?"

"भगवान्‌की मर्ज़ी पूरी होगी।"

"लेकिन मैं तुमसे पूछता हूँ, मेरे घर आकर क्यों तुम बखेड़ा करते हो? और घर कम हैं, जो तुम्हें मेरा ही घर सूझा है?"

"फ़क़ीरके घर आनेको क्यों बखेड़ा समझते हो ? फ़क़ीरके लिए जैसा तुम्हारा घर, वैसा औरोंका घर।"

"नहीं, हिन्दुओंके यहाँ बहुतेरे घर हैं...."

"फ़क़ीर सबका होता है और फ़क़ीरके सब हैं। हिन्दू-मुसलमान दुनियादारीकी बातें हैं, सच्ची बातमें हिन्दू-मुसलमान क्या ?"

"लेकिन तुम यह क्यों नहीं देखते कि मेरे घर तुम्हारे आनेसे अड़चन पड़ती है, झंझट पैदा होती है ?"

"क्यों अड़चन पड़ने दो, क्यों झंझट पैदा करो ?"

"क्या तुम हमपर रहम रखकर अपनी ज़िद नहीं छोड़ सकते ?'

"यह झूठा रहम होगा। और मेरी अगर ज़िद भी हो, तो तुम्हारा इसमें नुकसान क्या ?"

"देखो, तुम्हारे आनेके दिन ही औरतपर मेरा हाथ छूटा। तबसे हम एक दूसरेसे ठीक बोलने-लायक़ नहीं रहे। तुम लौट जाओ, मैं कहता हूँ।"

"यह ठीक है। इसीलिए मै आता हूँ। देखूँ, कबतक मैं अपनेको इस लायक़ बना पाता हूँ कि मुझसे तुम्हें गुस्सा न हो।"

"अच्छा यहाँ आओ...."

साधुको साथ लेकर वह अपनी बैठकमें आ गये।

"बैठो...."

साधु एक मोढ़ेपर बैठ गया। वह भी एक कुर्सीपर बैठ गये। साधुने कहा—एक घंटेके बाद मुझे लौट जाना होगा। इसका ख्याल रक्खें।

दारोग़ाने कहा—मेरी यह समझमें नहीं आता कि तुम क्यों हमारे घरका अमन तोड़नेपर तुले हो और क्यों किसीको तुम कुछ-न-कुछ

देनेको लाचार करते हो। अगर कोई कुछ नहीं देना चाहता, नहीं दे सकता, तो तुम्हें इससे क्यों ज्यादा सरोकार होना चाहिए ? यह मैं इस लिए कहता हूँ कि तुम समझकी बातें करते हो।

साधुने कहा—जो शान्ति, फ़क़ीरके आने या चाहनेपर टूट जाय, वह मजबूत काफ़ी नहीं हुई; इसलिए उसकी कितनी कीमत हो सकती है ? और मेरी भीखकी माँग कितनी है ? दो टुकड़े नहीं दे सकते, न दो, मेरे लिए दिलकी मुहब्बत ही बहुत है। वह पा लूँगा, तो समझूँगा जो चाहिए था, पा लिया। रोटी तो पेटके गढ़ेको भरने और इस बद-नको जीता रखनेके लिए है, वह भी मुहब्बतके साथ न मिली, तो क्या मिली ? और मुहब्बत मिल गई, तो फिर रोटीकी क्या बात है ? इस मुहब्बतका तक़ाजा तो मैं सबसे करता हूँ और सबसे करूँगा। इस तकाजेसे बरी मैं अपनी तरफ़से तो किसीको न कर सकूँगा। मेरे लिए तो दुनियामें यही एक सरोकार रखनेके लिए चीज़ है। इसीकी मुझे जिद है।

दारोग़ा निरस्त्र हो ही गयेँ थे, अब जैसे पिघलने भी लगे। लेकिन पूछा—तुम साधु कबसे हुए, क्यों हुए ? सच-सच बताना।

साधुने कहा—यह सब जानकर क्या करोगे ? क्यों हुआ, इसके जवाबमें यही कह सकता हूँ कि परमात्माने चाहा, इसलिए हो गया। उसने चाहा कि मै सब जगह उसकी मुहब्बतका जलवा देखूँ, इसलिए मुझे इस राहपर लगा दिया।

दारोग़ाने कहा—अच्छा, मुझे माफ़ कर सकते हो ? मैंने तुम्हारी तरफ़ बड़ा गुनाह किया है।

साधुने कहा—माफ़ तो वही करता है। और सच्चे जीसे उससे माफ़ी माँगी नहीं कि उससे पहले ही माफ़ कर देता है। सच यह है

कि आदमी खुलकर माफ़ी तभी माँग सकता है, जब वहाँसे उसे माफ़ी मिल चुकी होती है। और मैं! आज कितना खुश हूँ, कितना शुक्रिया मानता हूँ उसका, कैसे कहूँ!

दारोग़ाने कहा—आप इतने यहाँ बैठें, मैं अभी आता हूँ। कहकर अन्दर गये।

मानो अब ऐक्यमें जो कुछ बाधक था, सब कुछ बह गया है। स्त्रीसे कहा—दो दस्तरख़ान बिछाओ और अपने कमरेमें जल्दी तैयारी करो। उन्हें ज्यादा फ़ुरसत नहीं है।

पत्नी, आनन्दित-चकित, न समझ सकी, क्या बात है, कौन हैं; लेकिन एक परिवर्तन—जो जैसे उसके सौभाग्यविधायकने उसके पतिमें सम्पन्न कर दिया है, वह कैसे छिप सकता? पूछा—ऐसे कौन हैं?

उत्तर मिला—कौन-वौन नहीं, जल्दी करो। पन्द्रह मिनटमें हम आते हैं।

पत्नी उछाहके साथ काममें लगीं, जो उछाह तर्कातीत है, जो जैसे भीतरसे उछला आ रहा है।

कमरेमें आकर साधुसे कहा—आपको भीख नहीं दी जायगी। दावत दी जायगी। मैं समझता था, आप हर्ज और गड़बड़ पैदा करने यहाँ आ पहुँचे हैं। जैसे हम दोनोंमें फ़र्क़ डालना आपका काम है; लेकिन अब और देखता हूँ। जैसे वह फ़र्क़ पड़ना हममें ज़रूरी था, जिससे उस फ़र्क़के ज़रिये हम एक दूसरेको और अच्छी तरह देख सकें, समझ सकें और पा सकें। आप फ़र्क़ डालकर हमें और मज़बूतीसे मिलानेके लिए ठीक संयोगसे यहाँ आ पहुँचे, अब मुझे इसमें सन्देह नहीं मालूम होता।

साधुने कहा—यह तो कहना कठिन है कि क्या किस मतलबसे होता है। क्योंकि परमात्माका राज्य इतना बड़ा है और हम उसके ज़र्रेके ज़र्रेसे भी इतने नन्हें है कि उसके इन्तज़ामको नहीं समझ सकते; लेकिन हम मज़बूतीसे दिलमें यह रख लें कि सब परमात्मा करते हैं और वह दयालु हैं। और जो कुछ होता है, उसे चेष्टा करके अपनी उन्नतिके अनुकूल रूपमें देखें और समझे। वासनाको बीचमें डालकर अपने-को तंग न करें। बाहरसे बातमें कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ा; लेकिन परसों मेरे आनेको जिस रूपमें देखते थे और अपनेको तंग करते थे, आज वैसे नहीं देखते और खुश हो। यानी मुझमे, खुदमें न तो तुम्हें खुश करनेकी कोई सिफ़्त है और न रंजमें डालनेकी। लेकिन फिर भी तुम रंजमें पड़े थे और अब खुश हो। मैं वही हूँ, मेरा आना वैसा ही है, फिर भी तुम्हारे नजदीक बहुत भेद पड़ गया। इसलिए इस विश्वासमें मज़बूतीसे निवास करोगे कि सब कुछ वह करता है, तो बाहरी चीज़ ऐसी नहीं रह जायगी, जो तुम्हारी शान्तिको तोड़ सके, तब तुम्हारी शान्ति ऐसी निर्मल, दृढ़ और प्रकृतिस्थ हो जायगी।....

इतनेमें भोजनके लिए बुलाहट हो गई। दारोग़ाने कहा—आपको मेरे पास बैठकर खानेमें एतराज़ न होगा, मुझे उम्मीद है।

साधुने कहा—एतराज़ तो मुझे किसीके भी साथ बैठकर खानेमें होना चाहिए। झोलीमें डालकर ले जाने और अपने स्थानपर खानेकी ही आदत मुझे पसन्द है; लेकिन आज मैं तुमको अपने इस एतराज़से नहीं डराऊँगा। हाँ, खानेकी चीज़ोंमें कुछ ख्याल रखता हूँ।

दारोग़ाने कहा—उस ख्यालका तो मुझे भी ख्याल रहता है।...तो चलिए।

' दोनों बैठकसे निकलकर चले। जब साधुने देखा—उन्हें ' अन्दर ' ले जाया जा रहा है, तो उसे तनिक विस्मय हुआ, संकोच भी। पूछा—कहाँ ले जा रहे हो ?....

दारोगाने कहा—चलिए। फ़िक्र न कीजिए। आपके लिए कहीं रोक न होगी। आप तो उसके हैं, जो सब जगह है।

महिलाने देखा, तो विस्मय और हर्षका ठिकाना न रहा। जो चाहती थीं, वह सब यों अनायास पतिमें कब और किस तरह घटित हो गया!

उन्होंने जिस कृतार्थ और धन्यभावसे खिलाया, वह वर्णनमें नहीं आ सकता।

साधुने मानों उन्हे उनका परम इष्ट प्रदान किया। उन्होंने जैसे पतिको और नये सिरेसे घनिष्ट रूपमें प्राप्त किया।

भोजनके बाद पतिने कहा—जानती हो, इन्होंने मुझे क्या बताया है? इन्होंने बताया है कि शान्ति वह रक्खो जो टूटे नहीं, जो दूसरेपर निर्भर होकर न रहे, न किसी बाहरी घटनापर, न व्यक्तिपर, जो खुदमें पूरी हो और सर्वथा यथार्थ हो।—और साधुसे पूछा—क्यों, यही न?

पत्नीने कहा—तुमने इनसे माफ़ी माँगी?

साधु कुछ कहनेको हुआ।

पति बीचमें बोल पड़े—यह तो कहते हैं, मेरे हाथ न माफ़ी है, न नाराज़ी। यह कहते हैं, जो सबका मालिक है, उससे ही माँगो, उससे ही लो।

साधुने कहा—हाँ, सब लेना-देना सीधे उसीसे रखना चाहिए, वह सब दुख हरता है।

पत्नीने कहा—लेकिन गुनाह बड़ा है। तुम बाबा, हमारा ध्यान

रखना, और हमारे लिए दुआ माँगना। हम दोनोंको तुम्हारी माफ़ी और दुआ चाहिए।

साधुने जरा मुस्किरा दिया—हाँ, मैं तुम्हारे लिए दुआ माँगूँगा और माफ़ी मागूँगा। मैं दुनियाके लिए यह माँगता हूँ। और उसी मुस्करा-हटके साथ पूछा—कोई बाल बच्चा है ?

पत्नीने पतिकी ओर देखा और पतिने पत्नीकी ओर। फिर झट दोनों धरतीकी ओर देखने लगे।

पत्नीने फिर दबी जबानसे कहा—बाबा, इसके लिए भी दुआ माँगना। बरसोंसे हमारी साध है। तुम्हारी दुआ लग जायगी, तो जस मानेंगे।

साधुने कहा—वह सब कुछ देगा। उससे माँगे जाओ। मन, बुद्धि और देहसे जितनेके तुम समर्थ होगे, जितनेके अधिकारी होगे और जितना तुम्हारे लिए उचित और हितकर होगा, और जितनी तुम्हारी प्रार्थनामें शक्ति होगी, उतना ही वरदान तुमको उससे मिलेगा। भरोसा रक्खो, वह सब कुछ देगा।

कुछ देर बाद साधुने कहा—एक घंटेसे काफ़ी ज्यादा हो गया, मैं अब जाऊँगा। मेरे लिए तुम लोग भी दुआ माँगना।

वह चला गया।

* * *

डेढ़ सालमें उन्हें पुत्रकी प्राप्ति हुई। दोनों साधुके बड़े कृतज्ञ हैं। पुत्रको उसीका प्रसाद मानते हैं। हम पति-पत्नीकी इस कृतज्ञता और मान्यताको, केवल बुद्धिहीन भावुकता समझें क्या ?



चलित-चित्त



अभी अहमदको हुक्म देकर आराम कुर्सीपर पीछे झुके ही थे, कि फिर बुलाया—अहमद !

वह दरवाजेके बाहर ही हुआ होगा कि पीछे-पाँव लौट आया—हजूर ।

"देखो, हमारा डिब्बा आगे नहीं, पीछे लगेगा । समझे ?.... गाड़ीका क्या वक्त है ?"

"....सवा-बारह"

"कैसा बुरा वक्त है !" घड़ी निकालकर देखी—"साढ़े-दस भी नहीं हुए । दो घण्टे हैं,—अँह !"

अहमद, और हुक्म सुननेकी प्रतीक्षामें, वैसा ही खड़ा रहा ।

शेख़ साहबका ध्यान उस ओर गया—खड़े क्यों हो ? जाओ । बस । सब ठीक करके यहीं लौट आओ ।

उसके चले जानेपर 'वीकली-टाइम्ज़' को लेकर वह उस कुर्सीपर लेट रहे ।

'स्नेपशॉट-कम्पीटीशन' वाला सफ़ा खोला और देखते रहे ।....यह कुत्ता बढ़िया ब्रीडका माल्रूम होता है, कैसा आरामसे पड़ा है । और यह नङ्ग-धड़ङ्ग छोटे-बाबू उसके कानसे 'कानावाती कुर्र्र' कर रहे हैं या कोई और भेदकी बात कर रहे हैं ! कुत्ता आँख मूँदे बड़ा रस ले रहा माल्रूम होता है । नीचे पढ़ा—इस चित्रपर स्पेशल प्राइज़ मिला है,

कोयम्बटूरके किसी ईसाई सज्जनने भेजा है । उस पन्नेके और चित्र देखे—सब अच्छे हैं । फिर अख़बारके एक साथ कई सफ़े पलट डाले—एक तसवीर सामने आ गई । पत्रके आधे पन्नेको घेरे एक सुन्दरी महिला एक फैंसी ईवनिंग गाउनका प्रदर्शन कर रही है । खड़ी किस मज़ेमें है, और आँखोंसे जैसे निमंत्रण दे रही है । कुछ सेकेंड देखते रहे । फिर एक-एक कर सफे पलटने लगे । हरएक तसवीर एक-निगाह देखते जाते और आगे बढ़ते जाते । विज्ञापनकी तसवीरें भी इस तरह समाप्त हो गईं और पत्रका अंतिम कवर-पृष्ठ आ गया । उसे कुर्सीकी फैली चौड़ी बाँहपर डालते-डालते कवर-पृष्ठकी तसवीर आँखोंके सामने-से फिर गई—वरजिनिया सिगार्स—एक युवा सज्जन मानो वर्जिनिया सिगारमेंसे खींचे हुए स्वर्गको धुएँमें उड़ा रहे हैं, और मगन हैं ।

इसके बाद पत्रसे आँखें हट आईं । जेबसे एक केस बाहर किया और केससे एक सिगार बाहर निकाला । सुलगाया, और उसका रस लेने लगे । उड़ते और विलीन होते हुए उन श्यामल-वृत्ताकार धूम्र-वृत्तोंमेंसे देखा—वेटिंगरूम बिल्कुल खाली है । अकेले वही हैं—सामनेवालीसे दायें पार्श्ववाली ड्रेसिंग-टेबिल अच्छी है । कई कोनों-वाले कटका डिज़ा-इन पुराना हो गया है । यह ओवल-कटका आईना ज्यादा आर्टिस्टिक है; क्योंकि सादा है । इसके चौखटेकी कोर भी कैसी उमदा है ।.... सिलिंगकी नक़ाशी भी ठीक है । नई कोठीके बीचके हालमें ऐसी ही नक़ाशी करवाऊँगा ।....वेटिंगरूममें कोई भी और नहीं है ।....अहमद अभी तक नहीं लौटा ?....कैसे लौटेगा, अभी तो गया है ।....ओह, सवा-बारह बजे गाड़ी जाती है ! (घड़ी निकाली) ऐं, अब भी साढ़े-दस नहीं !....टाइम्ज़ उठाया, पहले सफेपर निगाह जमाई; पर जमी नहीं, फिर फट-फट सफे पलटे, वही-वही तसवीरें सामने आ गईं, दीख गईं

और चली गई; और फिर आखिरी पृष्ठ आ गया और फिर टाइम्ज़को कुर्सीकी बाँहपर रख दिया।

जी लगता नहीं; और लगनेको कोई बात, कोई बहाना चाहता है। अपनेको अकेले पानेकी आदतमें वह नहीं है और जब अपने सामने सिर्फ अपनेको ही पाते हैं, तब बड़ी जल्दी अधीर और बेचेन हो उठते है; क्योंकि अपने सरीखे किसी आदमीके अभावमें और किसी चीज़से बात करना उन्हें नहीं आता। अपने-आपसे उलझना और सुलझना, अथवा निश्चिन्त होकर अपने अतीतकी स्मृतिसे खेलना, या भविष्यकी आकांक्षाओंमें उड़ चलना; अर्थात्—अपने-आप जीवित रहनेके इस आर्टका अधिकारी उन्होंने अपनेको नहीं बनाया है।

क्या करें ?....आँखें मूँदीं, और ज़ोर लगाकर दो मिनट पड़े रहे। आँखें खोलीं, अब भी कोई वेटिंग-रूममें नहीं है।....सो जाऊँ ?.... कैसे सो जाऊँ ?....उठ बैठे, टहलने लगे, आईनेके सामने खड़े हुए, चेहरा देखा, बढ़े हुए बालोंपर हाथ फेरकर फिर ठीक कर लिया; दूसरी टेबिलके सामने खड़े हुए और वही कृत्य दुहराया।....करते-करते, चार मिनटमें कुर्सीपर आ रहे। घड़ी देखी। साढ़े-दसमें एक मिनट है।.... ओह !

कि अचानक त्राण मिला। दरवाजेके बाहर पदध्वनिकी आहट मिली। कोई आया चाहता है। शरीरका प्रत्येक रोम आँख बनकर दरवाज़ेकी ओर जा लगा। टाइम्ज़को हाथमें कर लिया, टाँग और स्वतंत्रतासे फैला लीं, सिर सीधा कर लिया।

एक अँग्रेज सज्जन आये। कुलीन मालूम होते है। शायद कोई उच्च-पदाधिकारी सिविल-अफ़सर हों। ओवरकोट बहुत नफ़ीस है। मेरे कोटसे क्या अच्छा है ? शायद है। और ग्लब्ज़ ?

वह भद्र पुरुष इन्हींके पास आ गये। 'टाइम्ज़' अब उनके हाथोंमें थमा हुआ आँखोंके आगे फैला है; निगाह बिलकुल किसी लेखमें फँस गई है।

इन्होंने सुना, आगत महाशय कह रहे हैं—क्षमा करें, आप कहाँ जा रहे हैं?

पूछनेके साथ-ही-साथ ओवरकोट उतारनेकी तैयारी भी करते जाते हैं।

"कृपा है।....लखनऊ जा रहा हूँ।"

ओवरकोट उतर आया है। उसको एक कुर्सीके सिरहाने लटकाते हुए कहा—

"लखनऊकी गाड़ीमें तो देर है, मैं समझता हूँ।"

"दो घण्टे हैं।"—देखा, उन्होंने अब हाथोंमेंसे ग्लब्ज़ खींच लिये हैं। हाथ कैसे कोरे, सफ़ेद हैं! और यह!....कैसी जगमगाती है अँगुलीमें! कितना चौड़ा नग है! न-जाने कैसे अँगलीपर टिका है! कमरेकी बिजलीकी रोशनीका प्रकाश.......

दस्ताने उन्होंने एक दूसरेसे जोड़कर वहीं मेज़पर रख दिये। अब कोट उतारना आरंभ किया।

....देखो, कितने पहलू हैं। नग कैसा सफ़ेद झकझका रहा है।.... मानों कमरेका सारा प्रकाश इसके भीतर समाकर एक बिन्दु-रूप हो जाना चाहता है।....और पहलू कितने हैं? दर्जनों, और कैसे उस प्रकाशकी जोतको यहाँ-वहाँ फेंक रहे हैं।....अजीब हीरा है! कितनेका होगा?

तबतक, कोट उतारकर और तहकर दस्तानोंके बराबर ही रख दिया गया। इन्होंने सुना—मैं समझता हूँ, मुझे आपको कुछ कष्ट देना होगा।

"कष्ट कैसा !....सेवासे सम्मानित हूँगा ।"

"....मैं अभी दो मिनटमें आता हूँ । गाड़ीका सिगनल हो गया है, दूसरी घण्टी भी हो गई, बनारस जाऊँगा । गाड़ी स्टेशनपर अब पहुँचती ही होगी । मैं भी अभी आया ।....क्षमा करें ।"—यह कहते-कहते उसने वह अँगूठी उतारी, वहीं दस्तानोंके ऊपर रख दी, और वेटिंग-रूमके पीछेकी तरफ़ चला गया ।

वह चला गया । यह अकेले हैं । अँगूठी मानो शुक्रके तारेको अपने मर्ममें दबकाकर यों चुपचुपाई दस्तानोंपर बैठी है ।....किस कारीगरने बनाई है । नगसे छूती हुई सोनेकी कोई रेखा भी तो नहीं दीखती ! क्या खूब बनाई है ! नग, जैसे किसी जादूके बलसे अँगुलीपर टिक रहा है ।....और नग कैसा ठीकोठीक जैसे अँगुलीके ही नापका है ।

वह गये । अँगूठीको उठाया और देखने लगे ।....सचमुच अपूर्व है !

अपने हाथकी अँगूठी उतारी और दोनोंको साथ रखकर देखने लगे । क्या यही मैंने पारसाल डेढ़-हजारमें खरीदी थी ? ख़ाक ख़रीदी थी !

उसे घुमा-फिराकर देखने लगे । अपनी अँगूठीकी हार मानों उन्हें चिढ़ाने लगी । उन्होंने उसे, खीझकर, अँगुलीमें नहीं डाली, जेबमें डाल ली । और उस सफ़ेद नगवालीको हाथमें लिये-लिये कुर्सीपर आ बैठे । जी-भरकर देखनेके बाद उसे मेज़पर रख दिया, और स्वयं 'टाइम्ज़' पढ़नेका यत्न करने लगे । अँगूठीका यह नया स्थान दस्तानोंसे कोई दो फुटके फासलेपर होगा ।

इतनेमें घण्टी बजी, कुलियों और सवारियोंमें भाग-दौड़ मची, और रेल प्लेटफार्मपर धकधकाती आ पहुँची ।

रेल आ गई ! यही तो बनारसवाली गाड़ी मालूम होती है। साहब अभी नहीं आये। सामान यहीं रखा है। कैसे साहब हैं, सामानके बारेमें यों बेफिक्र हो जाते हैं ? और अँगूठी ! क्या मैं इस सब सामानकी चौकसी करता रहूँ ? अँगूठी, क्या इस तरह उतारकर छोड़ देने लायक़ है ?

इस ख़यालपर उन्होंने फिर अँगूठीको देखा। देखकर फिर वहीं रख दी। कुर्सीसे 'टाइम्ज़' उठाया, और उसे झल्लाहटमें वहीं मेज़पर पटककर, दर्वाजेकी ओर बढ़ लिये, जहाँसे वह ट्रेन देखना चाहते थे।

अँगूठी 'टाइम्ज' के एक कोनेके नीचे छिप गई थी। वह दर्वाज़ेपर खड़े होकर प्लेटफार्मको देखने लगे। रह-रहकर, पीछे देख लेते थे। ओह, कितनी भीड़ है। लोग बैठनेको क्यों ऐसे उतावले हो जाते हैं, अभी गाड़ी भागी थोड़े ही जा रही है !—साहब, अब भी नहीं आये ? क्या खूब है ! गाड़ी आकर खड़ी है—उनके लिए सदा खड़ी थोड़े ही रहेगी। और अँगूठी, जान पड़ता है, अब एकाएक किसीकी निगाहको नहीं खींचेगी ! मैं इधर आ गया हूँ, किसी औरकी न-जाने कैसी निगाह उसपर पड़ती ? अँगूठी कीमती है, इसमें क्या शक है ? अखबारसे ढकी रहनेमें वह सेफ है।

....वह सफेद किसकी गाड़ी है ? ओह, टूअरिस्ट-कार है। इन अमरीकनोंको दुनियाकी सैर ही सूझती है !....खूब आदमी होते हैं !....रुपया इतना ढेर-का-ढेर कहाँसे ले आते हैं ? यों बहाते हैं कि कोई पानी भी न बहा सके...........

....ऐह, साहबको क्या हो गया है ! मुझसे नहीं होती चौकसी। कबसे तो खड़ा हूँ। एक अँगूठी जायगी, तो हज़ारोंपर आ बनेगी; पर उन्हें परवा नहीं !....

देखो, वह झाँका ! अमरीकन क्या होते हैं ! घरमें टकसाल रखकर भी मोटे नहीं होते ।

....अरबपती हैं कि खरबपती, पता नहीं; पर बदन एकहरा ही है । हम रुपयेका लुत्फ़ उठाना नहीं जानते, बस जमा करना, ढोना और खोना जानते हैं ।....मैं नहीं...इतनी देर हो गई, अब तक नहीं आये जनाब ।....किसीने अख़बारको सरकाया और अँगूठी नज़र पड़ गई, तो.... ?....अख़बारको कोई उठा लेता है,....और साहब कहेंगे, कहाँ गई अँगूठी ? कहेंगे मुझसे ।....यह अच्छी परेशानी हुई ।

अन्दर गये और अपनी तुर्की टोपी उतारकर अख़बारपर रख दी ।

....अब ठीक है । अब एकाएक कोई हाथ नहीं लगायेगा । वह पास ही कुर्सीपर लेट गये ।

साहब अब भी नहीं आया ! क्या गाड़ीसे रह जायगा ? अच्छी उसकी दो मिनट हुई ! क्या 'कमोड'से चिपक रहा ?....उसीको फ़िक्र नहीं, तो मैं क्यों करूँ फ़िक्र !....चलो जी, तुम आरामसे पड़ो। गाड़ी जायगी, तो उसकी, अपना क्या ।....पर आदमी अजीब है लापरवा !....

वह बिलकुल निश्चिन्त होकर बैठनेका निश्चय कर निश्चिन्त हो गये ।

सेकंड सरकते जाने लगे । साठ सेकंडका मिनट हो जाता है । गाड़ी अनगिनत मिनट तो ठहरेगी नहीं । अब नहीं, तो अब गई ।....निश्चिन्तावस्थामें भी सोचा,—भई, खूब रहा यह अँग्रेज़ ! आया, तो उसे कुछ सुनायेंगे !........

गार्डने पहली सीटी दी ।

उन्होंने ज़ोरसे पुकारा—हलो, गाड़ी जाती है ।....सीटी नहीं सुनते ?

जैसे जल्दी-जल्दीमें उत्तर मिला—ओह ! आया, बस आ ही रहा हूँ।—धन्यवाद । और लगभग तुरन्त ही इंग्लिश महाशय आये । चेहरे और हाथसे पानी टपक रहा है। पतलूनकी पेटी कसी जा रही है। बोलते आ रहे हैं—माफ़ कीजिए,—बड़ा कष्ट हुआ, अत्यंत धन्यवाद ।....

मेजके किनारे आकर एक ही झटकेमें कोटकी आस्तीनोंमें बाँह डालकर उसे ठीक पहन लिया ।

शेख़ साहब कुर्सीसे उठने लगे—ओह, नो-नो....आप लेटे रहिए, तकलीफ न कीजिए। ओवरकोटको कंधेपर डालते और दस्तानोंको झपटकर उठाते हुए साहबने यह कहा, और फिर जैसे एक क्षण मेज़-पर कुछ दीखनेकी आशा की....

शेख साहब मेज़परसे अख़बार और टोपी उठा लेनेको जैसे उठना चाहते थे,....

"नहीं, आप आरामसे लेटिए...."

शेख़ साहब आरामसे लेटना नहीं चाहते; पर अनुरोधकी अवज्ञा भी तुरन्त नहीं कर सके। जैसे न चाहते हुए भी लेटे रहे।

मेजपरका अख़बार और अख़बार परकी टोपी हटनी चाहिए, यह इच्छा जगी तो; पर मानो तन्द्राकी करवटमें 'अब उठूँ, अब उठूँ' में अलसा गई, एकदम उठकर नहीं खड़ी हो गई, और क्षण बीत गया—जिस क्षणमें साह-बने कुछ देखनेकी आशा की थी—पर इस क्षणके बीतते-बीतते रेल पकड़-नेकी झटपटने उस आशाका स्थान ले लिया। इस शीघ्रताकी आवश्य-कताने एक भागता हुआ-सा आश्वासन साहबके मनको दिया—"सब ठीक है, मैं और क्या सोचता हूँ !" और इस प्रकारका एक अनिश्चित-निश्चय और एक अस्पष्ट तुष्टि लेकर वह अँग्रेज़ सज्जन शेख़ साहबके

कष्टका बहुत आभार और धन्यवाद मानते हुए, उठते-उठते हुए शेख़को बैठाते और बोलते-बोलते शेख़को चुप करते हुए, रेलको पकड़नेके लिए फौरन प्लेटफार्म पर दौड़ गये।

शेख़ साहब कुर्सीपर थे। सत्कामना उनके भीतर अभी करवटें लेनेका स्वाद समाप्त कर पूर्ण उत्तिष्ठ होनेके समीप आना चाह रही थी।

गार्डने सीटी दी।

यह तीसरी सीटी शेख़ साहबके भीतर चीखती हुई ही मानो पहुँच गई। वह झपटकर बाहर दौड़ आये। रेल सरकने लगी।

वह किस डिब्बेको पकड़ें?

रेलकी चाल तेज़ होती जा रही है; मानों उनकी पकड़से डरती है।

किसी भी डिब्बेपर चढ़ जायेंगे। झपटे कि किसीने पकड़ा—अजी!

वह इधर झगड़ते हैं, उधर डिब्बेके डिब्बे भागे चले जा रहे हैं।

ज़ोरसे झटका दिया, मानो शाप देंगे, चिल्लाये—अहमद!

अहमदने स्वामि-भयसे स्वामि-भक्तिको प्रधानता दी।

गाड़ी फकफकाती दूर चली गई।

अहमद सम्मान और संभ्रमके साथ अब अलग खड़ा हो गया।

शेख़ साहबके सामने-सामने गाड़ी निकल गई है, मानों मौक़ा निकल गया है, जो कभी नहीं लौटेगा, जो कभी-कभी ही व्यक्तिके जीवनमें इसलिए आता है कि उसकी परख कर डाले, जो ख़ुदाकी तरफ़से आता है और फिर ख़ुदाकी हाजिरीमें ही पहुँच जाता है।

गाड़ीकी फकफक सुनाई देती है। जैसे, विजयोल्लासमें अपना पैग़ाम पूरा करके उसका नतीजा मालिकके दरबारमें पेश करने, तेजीसे भागी चली जा रही है।

क्यों अहमदने उसे पकड़ लिया ? यह रेल उस मालिकको मेरी क्या ख़बर जाकर देगी ? मैं इसे क्यों न पकड़कर रोक सका ! ओह, जिस मालिकने मुझे पैदा किया, उसीको अपने बन्देके बारेमें यह ख़बर मिलेगी, तो वह कितना रोयेंगे ?

लेकिन अहमद क्या जानता है ? वह बेचारा क्या करता ? उसने क्या वही नहीं किया, जो उसे करना था ?

अहमदपर किसी तरहका रोष और क्षोभ नहीं प्रकट होना चाहिए।

"अहमद"—उन्होंने कहा—"तुमने सब इन्तजाम कर दिया ? तुम यहाँ कैसे पहुँचे ? अच्छे वक्त आ गये ! एक दोस्त गाड़ीमें दिखलाई पड़ गये, देखकर यह खयाल न रहा कि गाड़ी तेज़ होती जा रही है। गाड़ीपर चढ़नेकी कोशिश ख़तरनाक हो सकती थी; और उतरना और भी मुश्किल और खतरेका। तुमने ठीक ही किया, अगरचः उस वक्त मुझे अच्छा न लगा। जाओ, तुम सामानके साथ ही रहो। गाड़ीके वक्तसे पन्द्रह मिनट पहले मुझे खबर देना। मुमकिन है, मुझे नींद आ जाय, और नींद न तोड़ना ही मुझे पसन्द है। तब आजका जाना मुल्तवी समझो। वेटिंग-रूमका दरवाज़ा बन्द मिले, तो यही समझना। फिर मुझे जगानेकी कोशिश बिल्कुल न करना।

अहमदको रवाना करके शेख़ साहब उसी रूममें आ गये। उसी आराम-कुर्सीके आगे मेजके किनारे ठीक उसी जगह खड़े होकर जहाँ मेजपर वह अँगूठी, अँगूठीपर अख़बार और अख़बारपर टोपी रक्खी थी, उन्होंने जेबमेंसे बँधी मुट्ठीको निकाला और खोला। प्रकाशसे खिलखिलाती हुई वह अँगूठी मेजपर गिरी, और चक्कर खाती हुई एक जगह यों करवट लेट गई मानों अब उनकी ही वशवर्तिनी चेरी होकर रहना चाहती है। अब वह उनकी ही है, चाहे उसे फेंक दें, या यों पड़ी

रहने दें, चाहे अँगुलीपर चढ़ाकर शौक़ पूरा करें। मानों पड़ी-पड़ी वह अपने लिए दया माँगती है, और निवेदन करती है—मेरा क़ुसूर तो देखिए क्या है। मैं आपके पास ही रहूँगी, यों ही चुप पड़ी रहूँगी। नाराज मत हूजिए। मैं क्या नाराजगी उठाने लायक हूँ?....नहीं, मैं किसीसे भेद नहीं कहूँगी?

किसीसे भेद नहीं कहेगी, कम्बख़्त! शेख़जीने सोचा, अब यह भी तसल्ली देती है। बेशर्म सफ़ेद, चमकीला जगमगाता मुँह लेकर यहाँ मुझे फँसानेको सामने आ गई! अब यों पड़ी है, जैसे कुछ जानती ही नहीं। दूर हो बदज़ात!

उन्होंने एक चुटकी ज़ोरसे अँगूठीमें मारी। वह मेजपर डेढ़-दो गज दूर सरक गई।

अबतक खड़े थे, अब धबसे कुर्सीपर बैठ गये। बाँह कुर्सीके दाहने बाज़ूपर रख ली, और ठुड्डी दाहने हाथपर टिक रही।

....यह क्या किस्सा हो गया? वह अजब आदमी था कि अँगूठी ही छोड़ गया। कहाँ रहता है, कौन है, कैसे भेजी जाय?....अँगूठी भेजना चाहते हो? क्या ख़ूब। दो हज़ारसे कमकी न होगी।....हैं, यह क्या दो हज़ारकी बात सोचता हूँ! दस दफ़े दो हज़ार लुटा डालूँगा। रुपयेकी क्या कमी है।....अँगूठी भेजेंगे? वह अँग्रेज़ यहाँ था, तब उसे दी क्यों नहीं?....दी क्यों नहीं? कौन कहता है, नहीं दी? उसे ही इतनी जल्दी पड़ी थी कि छोड़के भाग गया, मुझे देनेकी फ़ुर्सत भी तो नहीं दी। मैं क्या देता न था? क्या कभी भी मेरी न देनेकी मंशा थी? पर, ज्यों ही दूँ कि वह तो भाग छूटा!....

वह बनारस ही रहता है? कौन है?....उसने अब तक देख लिया होगा—अँगूठी नहीं है। क्या सोचेगा? सोचेगा कहीं गिर गई। कहाँ

गिर गई ? क्या वह यहाँकी सोचेगा ? क्यों नहीं सोचेगा; पर मैंने तो अँगूठी ली नहीं। मैं कहूँगा; मैंने नहीं ली। मैं उसे ऐसी-ऐसी पाँच अँगूठियाँ ख़रीद दूँ। नहीं, मैंने कभी नहीं ली। वह खुद भूल गया था। बिलकुल वही भूल गया था, साफ़ तो बात है। मैंने नहीं ली, नहीं छुई।....छुई ?....हाँ छुई। छूनेमें कुछ हर्ज है ? क्या हर्ज है ? हाँ, खूब छुई, खूब देखी; पर लेनेके लिए नहीं छुई, लेनेके लिए नहीं देखी। नहीं, मैंने बिल्कुल कभी लेनेके लिए नहीं ली।........

....वह सोचेगा, मैंने ली। जैसे मैं चोर हूँ ! मैं ! चोर !! यह झूठ है। मैं चोर नहीं हूँ। बिल्कुल चोर नहीं हूँ। मैंने चोरी नहीं की। मैं चिल्लाकर कह सकता हूँ, मैं चोर नहीं हूँ। मैं सबके सामने कह सकता हूँ, उसके सामने कह सकता हूँ। मैंने नहीं ली, नहीं ली, एकसे सौ बार नहीं ली। मैं चोर कभी नहीं हूँ।

मैं क्यों लेता ? अँगूठीका मैं भूखा हूँ ? ऐसी अँगूठियाँ मेरे नौकर पहनते हैं।....क्या ?....वह सोचेगा ? उसके सोचनेसे क्या बनता है। मैंने जब ली ही नहीं, तो वह सोचा करे लाख बार।....और उसे सोचनेका हक़ ? वह कौन होता है कुछ सोचनेवाला ? मैंने तो ली नहीं, फिर भी वह सोचेगा। कैसे सोचेगा ? नहीं सोचेगा। बिलकुल नहीं सोचेगा। मैंने क्या देखा नहीं, वह भलामानस है, सब समझता है। वह समझता है, मैंने नहीं ली, मैं कभी नहीं ले सकता।....फिर भी सोचेगा, तो सोचे।....मैं भी देखता हूँ, कैसे सोचता है ?....सोचनेका कुछ प्रमाण, कुछ कारण, कुछ अनुमान ? ख्वामख्वाह सोचेगा !....और सोचता ही है, तो सोचे।....भले आदमियोंको आँच आनेकी पहली बात तो होगी नहीं। दुनिया यों ही समझ लेती है। भलोंको इल्ज़ामके नीचे दबा देती है; पर दुनियासे क्या होता है, और किसीके सोचनेका क्या

उठता है—मैं तो मैं हूँ। मैंने ली नहीं, तो मुझे डर ? मुझे काहेका ख़याल, काहेका डर ? मैंने तो ली नहीं !

....अँगूठी ?....कौन पूछता है ?—वह रही अँगूठी। वह पड़ी है मुझसे दूर। मेरे पास भी तो नहीं है। मुझसे उससे क्या वास्ता ? मैं क्या जानूँ, कहाँसे आई, वहाँ कैसे पहुँची, किसकी है ? मेरा क्या सरोकार ? मैं यहाँ, वह वहाँ। मैं कुछ नहीं जानता।

....क्या ? एक अँग्रेज़ आया था ? उसकी अँगूठी....? कैसा अँग्रेज़, कौन अँग्रेज़ ? आया था, तो आया होगा। मै कोई सबका हिसाब रखता हूँ ? मेरा कोई जिम्मा जाननेका नहीं है। सब याद रखनेका मैंने ठेका नहीं लिया। मैं नहीं जानता।....और, अँगूठी ?....यह लो, यह रही मेरी अँगूठी....

एकाएक अपनी अँगूठी जेबमेंसे निकाली और दाहने हाथपर रखकर उसे आगे बढ़ा दिया। मानो मुलाहिजेके लिए पेश कर रहे हों। फिर अन्यमनस्क भावसे दोनों हाथ उस अँगूठीसे खेलने लगे।

...लो देखो, यह है अँगूठी।....और अँगूठी ? और अँगूठियोंको औरोंसे पूछो। मैं अपनीको जानता हूँ। औरोंकीसे मुझे मतलब ?....खो गई है, तो होगी यहीं कहीं, ढूँढ़ो। मैं क्या जानूँ ? मैं कुछ नहीं जानता, मुझसे मत पूछो।....नहीं, मैं ढूँढ़नेमें मदद नहीं दे सकता।

बहककी तेजीमें वह अकस्मात् कुर्सीसे उठकर टहलने लगे और टहलनेकी गति तेज़से और तेज़ होती जा रही थी।

....वह फिर नहीं लौट आ सकता ? मैं बतलाता कि कैसे वह अँगूठी जल्दी-जल्दीमें भूल गया था, और मैंने उसे नहीं ली थी। मैं कहता कि जल्दी और लापर्वाही अब कभी मत करना। ख़ता खाओगे।

सब मुझ-जैसे नहीं होते; क्योंकि मैंने वह नहीं ली थी ।....कुछ हो, मैंने नहीं ली । हाँ, मैंने नहीं ली ।

क़दम जल्दी-जल्दी और ज़ोर-ज़ोरके पड़ते जाते थे । मानो जो 'नहीं ली' 'नहीं ली' का भाव जितना जल्दी-जल्दी और ज़ोर-ज़ोरसे भीतर दुहराया जा रहा है, क़दम उसीका साथ दे रहे हैं ।

वह कौन देख रहा है, मुझे साथ-साथ चलता हुआसा ?....देखो, खूब देखो, कोई मैं दीखनेसे डरता हूँ ! कहीं देख लो, जेब देख लो, सब तलाशी ले लो—मेरे पास अँगूठी है ही नहीं । हो कहाँसे ? हो तो तब, जब ली हो । जब ली ही नहीं, तो कोई देखे, जितना चाहे देखे ।....पर कौन होता है कोई देखनेवाला ? क्यों देखता है ? कैसे देखता है ? मैं तमाशा नहीं बनना चाहता । देखना है तो तमाशा जाकर देखे, मेरा क्या देखेगा ? देखूँ, कौन देखता है ? उसकी....

....क्या खड़े देखते हो जी ? तुम्हें काम नहीं है ? यहाँ क्या काम है ?....बोलते नहीं ?....आँखें क्यों लाल कर रक्खी हैं ? नसें क्यों तुम्हारी फूल रही हैं ?....कोई मैं तुम्हारा दबैल हूँ, जो डर जाऊँगा ? डरें वह, जिन्होंने कुछ किया हो !....ओह, डराने आये हो, तो मुँह धो रक्खो । मेरा डरे दुश्मन ।....तुम जाते नहीं ? मुझे ताकते खड़े हो ? क्या हुआ ? क्या बात है ?....अब हँसना चाहते हो....?

अरे....! वाह ! ! अहा-हा-हा ।....अरे मुझे क्या हो गया ? वाह खूब रही ! अपना ही अक्स नहीं पहचाना गया ! अहा-हा-हा !.... कोई भी तो और नहीं है, मैं ही तो हूँ । मैं ऐसा हो गया हूँ ? आँखें मेरी लाल हैं ! क्यों लाल हैं ? गुस्सेकी मुझे जरूरत ? गुस्सा क्यों करूँ ? किसपर करूँ ? गुस्सा मुझे है ही नहीं । मैं तो बिलकुल ठीक हूँ; शान्त हूँ । न गुस्सा है न कुछ है ।.... नसें किसी औरकी फूली

होंगी। कुछ बात उनके फूलनेकी ?—यह आईना ही ख़राब है, कुछ-का-कुछ दिखाता है।....कोई देखे, मुझे कुछ नहीं है, कोई घबड़ाहट नहीं है।....ठीक तरहसे बैठा हुआ हूँ।

चलते-चलते जो पास हुई उसी कुर्सीपर बैठ जाते हैं।

मैं बिल्कुल साफ़ हूँ, कुर्सीपर बैठा हूँ, वेटिंग-रूममें हूँ। बारह बजे-की गाड़ीसे लखनऊ जाऊँगा। मुझे क्या हुआ है—कुछ भी नहीं हुआ।

वह किसकी आँख यों चमक रही है? एक ही है! एक ही आँख, और ऐसी चमक!....ओह, आँख नहीं है; तारा है, आस्मानसे टूटकर आ गया है और यहाँ बैठ गया है।....तो, तारेमें आँख नहीं होती? उसके आँख क्या होगी, वह तो आँख-ही-आँख है। है तो हो, सौ आँखें ऐसी क्यों न आ जायँ, मेरा क्या बिगाड़ लेंगी।....नहीं जी, तारा नहीं है। एक तारा कई दुनियाके बराबर होता है।....कोई जान-वर है, एक आँखवाला है। कई जानवर ऐसे क्या होते नहीं, जिनकी आँखें रेडियम-सी चमकें? आँखें क्या, जो खुद आगसे दीखते हैं।....पर, यहाँ वेटिंग-रूममें फर्स्ट क्लास वेटिंगरूममें!!....खूब जानवर है, यहाँ आ गया!....और, मेज़पर! मेज़ पर ही आरामसे आप आ डटे हैं। न हिलते हैं, न डोलते हैं!....हिलता-डोलता क्यों नहीं? एकटक अँगारे-सा वहीं बैठा-बैठा ताक रहा है! क्यों, ताक रहा है?....तो ताके; मेरी बलासे, एक लाख बरसतक वहीं बैठा-बैठा ताकता रहे। यहाँ तो दिल आईनासा साफ़ है और हीरे-सा सख्त है।....पर, यहाँ क्यों आ गया है? अपने भिटमें जाय या गड्ढेमें पड़े, यहाँ इसका कुछ काम नहीं है। मजेको गन्दा करेगा! यह उसकी गद्दीका तख्त है न!....कौन,....पर क्यों देखें? अपनेको अपना काम कम है, जो ऐसे कीड़ोंकी झंझटमें पड़ें? यों चमककर मुझे बुलाना चाहता है, खींचना चाहता है। मैं उसका रिश्तेदार

हूँ, जो उसे मुझसे काम है? अँगारे-सी आँखसे कितनी भी पैनी निगाहें मुझे क्यों न चुभाये! मैं नहीं जाता। यहाँ मजेसे बैठा हूँ, क्यों उठा भागा फिरूँ? अहमद आता होगा, रेल आयेगी, मैं लखनऊकी गाड़ीमें जा सवार हूँगा, फिर मुझे क्या मतलब रहेगा इस शैतान रूमसे और यहाँके शैतानोंसे।....वह तो और दमदमाती है, सूरजमें भी तो ऐसी तीखी जोत नहीं होती....ओह, जानवर नहीं, शैतानकी आँख है। शैतान!— ओह, शैतान!!....मैं तो खुदाका बन्दा हूँ; खुदाकी साया और हुक्मके तले रहता हूँ। मैंने कुछ नहीं किया। मैंने कोई चीज़ नहीं ली। शैतान मेरा क्या करेगा?

....क्या करेगा मेरा शैतान? मैं अपने ईमानमें महफ़ूज़ हूँ!....नहीं जी, शैतान कुछ नहीं होता, कोरा वहम है, वहमका पुतला है। और हो भी तो, हुआ करे।....आखिर यह बला चाहता क्या है? फक-फक फक्कारे मार रहा है और मुझे दहशतमें लाना चाहता है। शैतान-की आँख हो, चाहे कुछ हो, इसे फोड़ दूँगा। कैसी जलती, जहरीली निगाहसे देखती है, कम्बख्त! जोतकी किरन नहीं, जीभें हैं, इन्हींसे सब जगह पहुँचकर और गड़पर अपना जहर फैला देती हैं........

उठकर चलने लगते हैं।

....मुझे बुलाती है! चैलेंज करती है! जैसे मैं घबड़ाऊँगा।

जितने आगे बढ़ते हैं, प्रकाशका मोड़ सीधमें न होनेसे, अँगूठीके नगका ज्योतिर्मय दिखना क्रमशः क्षीण पड़ता जाता है, अन्तमें मन्द होते-होते वह ज्योति विलीन हो जाती है।

मैं क्यों घबड़ाऊँगा?....ओह अब यह तेजी भाग चली। कैसे मेरे सामने ठहरेगी?....कहाँ गई वह जोत? उड़ गई, भाग गई?....

धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। मन:स्थिति ऐसी नहीं है कि साधारणतः दीख सकनेवाली अँगूठी उन्हें अँगूठीके रूपमें दीख जाय। लगभग दो हाथ फासलेसे मेजके किनारेपर, जहाँ वह अँगूठी पड़ी थी, आँख मींचकर कुछ सहमकर और उसी अनुपातमें झटककर, हाथ मारा। अँगूठी कुछ चुभी और मेजका प्रत्याघात भी काफ़ी गहरा बैठा।

ओह, अब पकड़ लिया——....हैं, अँगूठी! अँगूठी, तू! तू ही कम्बख़्त!........मैंने तुझे कब लिया? ठीक बता, मैंने तुझे लिया? लेनेके लिए लिया? मैंने क्या तुझे अपनेसे दूर ही नहीं रक्खा? आँखोंसे न दीखे, इसलिए तुझे ढँक-ढँक नहीं दिया? दबा-दबा नहीं दिया?....तू खुद यहाँ रह गई, अब मेरे सिर पड़ती है!

अँगूठीने मानो स्वीकार किया——हाँ, मैं खुदही रह गई। आपने मुझे थोड़े ही रक्खा। लेकिन अब मुझे, फेंको मत, मेहरबानी करो, देखो, मैं आपकी चीज़ होकर रहूँगी। जो मेरा करोगे, उसीको अपना फ़ख़ मानकर, तुम्हारे ताबे पड़ी रहूँगी।

ताबे पड़ी रहेगी? मेरे पास रहेगी?....मैं नहीं रखता पास। मुझे नहीं चाहिए। भलीमानस बनती है, हरजाई, डायन! मैं नहीं रखता, नहीं रखता। घर-घर कहती फिरेगी, मैं उसकी थी। फिर उसने ले ली। तू तो झख मारकर रहना चाहे; पर मैं रखूँगा ही नहीं।

उलट-पलटकर देखने लगते हैं। वह सफ़ेद नग ही मानो आँखोंमें बार-बार गड़ता है।

....यहीं इसका ज़हर है। यहीं इसका जादू है। कैसा सफ़ेद अन्दर तक साफ दीखता है; पर क्या शैतान खूबसूरत नहीं होता? कैसी भूल खाई। मैंने इसे क़ीमती समझा। हाँ, ज़हर भी तो क़ीमती होता है।

मैं नहीं रखता।....वह क्यों छोड़ गया इसे यहाँ? मैंने नहीं लिया इसे। मैं नहीं लेता।

....अरे तू उधर यह कर रहा है! उसे देख रहा है, और मेरे हाथमें अँगूठी देख रहा है!....हाँ, मैंने शैतानकी जगह अभी इसीको बैठा पाया है। यह उसीके हुक्मसे यहाँ आ गई है। उसीके हुक्मसे यहाँ रह गई है।....मेरा इससे कुछ मतलब नहीं।.... मतलब है?—कैसा मतलब है? कौनसा मतलब है? देखो, तुमसे कहता हूँ। यह मेरे हाथकी अँगूठी मेरी नहीं है, एक शैतानका बच्चा यहाँ छोड़ गया है....तुम नहीं मानना चाहते?.... हम दोनों साथ जो हैं, सो इसपर तुम मन-ही-मन कुछ-का-कुछ समझ रहे हो? पर तुम्हारी गलती है। यह मेरी नहीं है। मेरी हो ही कभी नहीं सकती। मैं इसे कभी अपनी बनाऊँगा ही नहीं।....नहीं मानते? —तुम भी शैतान हो। उसके ही साथी हो। हम दोनोंका यों अक्स उतारकर अपने पेटमें रख लोगे और हरएक आते-जातेको दिखाओगे —देखो शेख़ साहबको दूसरेकी अँगूठीके साथ देखो।...शेख़ दूसरेकी अँगूठी क्या दूसरेकी बादशाहतको जूतेका तला भी नहीं बनायेगा।....और तुम अपना अक्स पेश करोगे और कहोगे शेख़ चोर! और राह चलता आदमी भी कहेगा—शेख़ चोर!....तू यह करेगा? यह करेगा? ऐं?— अच्छा....!....

सामनेके आईनेपर, जिसमें इनका अक्स पड़ रहा था, ज़ोरसे वहीं अँगूठी फेंककर मारी। आईनासे कच्से हुआ और जहाँ वह अँगूठीकी चोट बैठी उस स्थलको केन्द्र बनाकर यहाँ-वहाँ चारों ओरसे तरेड़की रेखाएँ आ मिलीं।

....लो, और करो ज़िद ! अब यही चेहरा लेकर खड़े रहना।

अब मानो कमरे-भरसे बात करने लगे। मेज़, कुर्सी, छत, फ़र्श, दीवार, सबसे कहते हैं और सबको अपनी नेकनीयतीका कायल करना चाहते हैं।

और तुम देखो। अँगूठी वह रही, मैं यहाँ खड़ा हूँ। क्या वह मेरी है ? नहीं, वह मेरी कभी नहीं है। तुम सब जानते हो। मैंने कभी उसे लिया ? सच-सच बताओ, मैंने उसे लिया ? तुम खूब जानते हो, मै नहीं ले सकता था। मैंने नहीं लिया।....और यह देखो,....

जाकर फर्श परसे फिर अँगूठीको उठा लेते है और जेबसे अपनी अँगूठी भी निकालते हैं।

यह सफ़ेद है, मेरीका नग सुर्ख़ है। मेरी तो सुर्ख़ है, यह है। तुम सब जानते हो, सफ़ेदवाली मेरी नहीं है।....या अल्लाह, क्या हो गया है इन्हें ! मेरी बातपर चुप, मानों ताना कर रहे हैं ! बात तो साफ़ है, जैसे मेरा दिल साफ़ है। फिर ये सब सलाह करके मेरी बातका मूक व्यंग्य क्यों कर रहे हैं ? क्यों ये मुझे नहीं समझते, और क्यों मेरी बात नहीं मानते ? या अल्लाह, तू जानता है, मेरी अँगूठी सुर्ख़ है। दूसरी मेरी नहीं है। मैंने उसे कभी अपनी बनानेका इरादा नहीं किया। मैंने उसे नहीं लिया। यह सब शैतानकी करामात है, जो मेरे और तेरे बीचमें हायल होनेको आ गई है ! या अल्लाह, मैं तेरा हूँ, मैंने नहीं ली, नहीं ली। मेरा दिल देख ले, मैंने नहीं ली।

....है ! कौन है ? कोई आ रहा है।—कौन आ रहा है ! अहमद ! गाड़ीका वक्त हो गया। मैं खड़ा हूँ। क्यों खड़ा हूँ....

शीशेकी तरफ़ देखा।....क्या शकल है इसकी और क्या शकल

है मेरी ? एक हाथ दिया और आईना उस कोणपर आ झुका, जिसपर उसकी टूटी हालत अकस्मात् प्रकट नहीं होती थी, और खुद झपटकर आराम-कुर्सीमें आ पड़े।

....अहमद ! अहमद तो नहीं है। क्या है, कौन है, क्यों आया है ? ....मैं कुछ नहीं जानता, मैंने कोई चीज़ नहीं देखी। मैं अभी लखनऊ जा रहा हूँ। मैं जागीरदार हूँ।....मैं तंग होना नहीं चाहता।....

जंकशन स्टेशनका बंगाली स्टेशन-मास्टर एक तार हाथमें लिये हुए वेटिंग-रूममें दाख़िल हुआ। तारमें अँगूठीका जिक्र है, जो भूलसे वेटिंग-रूममें रह गई है, और जिसको ढूँढ़कर यथाविहित स्थानपर पहुँचा देनेका स्टेशन मास्तरको आदेश है। तारमें एक वेटिंग-रूममें ठहरे हुए सज्जनसे सहायता लेनेका प्रस्ताव भी किया गया है।

....कौन है यहाँ ? हाथमें कागज कैसा है ? कौन मेरा, अँगूठीसे ताल्लुक जानता है। ताल्लुक है ही नहीं। मैं कुछ नहीं जानता। वारण्ट नहीं हो सकता। मैंने कुछ नहीं किया। यों ही वारण्ट ! कौन गिरफ्तार कर सकता है ? मुफ्तमें है गिरफ्तार कर लेगा। देखूँ, तो कौन करता है !

और वह जैसे आरामके साथ सिर पीछे फेककर मानो ऊँघकी हालतमें हो गये। आँखें यों सो रही थीं, फिर भी पूर्ण सशंक और सजग, आगतके आगमनको देख रही थीं।

स्टेशन-मास्टर इनके पदस्थ और अधिकारको जानता है। चुपचाप इनकी कुर्सीके पास आया। देखा, सो रहे हैं। क्या करूँ, सोचते हुए खड़ा हो गया। क्रमशः अधिकाधिक स्पष्ट आवाजमें चार बार 'क्षमा करें, क्षमा करें' कहने पर मानो इन्हें चेत हुआ।

"क्या है ?"

उसने तार दिया।

इन्होंने जेबसे अँगूठी निकाली—यह लो।

स्टेशन-मास्टरने बहुत-बहुत थैंक्स दिये।

फिर दूसरी अँगूठी निकालते हुए कहा—यह लो।

स्टेशन-मास्टरकी कुछ समझमें न आया।

अँगूलीमेंसे एक और अँगूठी निकालते हुए कहा—यह लो।

"जी नहीं नहीं। एक सज्जनकी अँगूठी यहाँ रह गई है। वह ..."

"तीनों ले जाओ या जो चाहे ले जाओ।"

"जी, वह अँगूठी...."

"मैं और कुछ नहीं जानता। अँगूठी एक, दो या तीनों ले जा सकते हो। मुझे एककी भी ज़रूरत नहीं।"

"जी, नहीं। वही...."

"मैं क्या जानूँ? मैं कुछ नहीं जानता। ये मैं कैसे जान सकता हूँ?" यह कह कर वह उसी तरह कुर्सीपर पड़ रहे।

स्टेशन-मास्टर और प्रश्नके साहसकी ज़रूरतको ज़रूरी न समझ स्वयं फर्शपर, मेज़ और कुर्सियोंपर अँगूठी ढूँढ़नेकी कोशिशमें लगे।

....मैं, सच, कुछ नहीं जानता। मैं क्या जानूँ। कौनसी अँगूठी? मेरे पास कोई अँगूठी-वँगूठी नहीं है।

जिन तीन अँगूठियोंको अभी जेबमें रक्खा गया था, उनको निकालकर मेजपर रख दिया।

....अँगूठी ढूँढ़ने आया है? ले क्यों नहीं जाता तीनों अँगूठियाँ, मैं उसे बतलाऊँ, कौन और कैसी अँगूठी! मैं बतलानेवाला कौन, मैं जाननेवाला कौन!

पाँच मिनट लगाकर स्टेशन-मास्टर जानेको हुए। कष्ट देनेके लिए क्षमा माँगने इनके पास आये। इन्होंने पड़े-पड़े तीनों अँगूठियोंकी तरफ़ इशारा कर दिया, मानो कह रहे हैं—अँगूठियाँ ये रक्खी हैं, वैसे मैं कुछ नहीं जानता।

स्टेशन मास्टर चले गये। उनके बाहर होते ही ये उठे और दरवाज़ेकी चटखनी अन्दरसे बन्द कर आये। लौटकर तीनों इकट्ठी पड़ी हुई अँगूठियोंको उठाया, पीछेकी तरफ़की एक खिड़कीको खोला, जो अँगूठी अब कुछ मिनट पहले ही अँगुलीपर चढ़ी थी उसे छाँटा और ज़ोरसे, खिड़कीकी राह, स्टेशनके बाहर फेंक दिया। वह कहाँ जाकर गिरी, पता नहीं। उसके गिरनेकी आवाज़ उन्होंने सुननी चाही, पर सुन न पड़ी। फिर लाल माणिकवाली अँगूठीको लिया और उसे भी वैसे ही फेंक दिया। उसके बाहर जाकर किसी खम्भेसे या और किसी चीज़से टन्नसे टकराने और धरतीपर गिरनेकी कुछ आवाज़ जैसे सुनाई दी। फिर उस सफ़ेद नगवालीको लिया, तनिक देखा, और भरपूर जोरसे फेंका। वह बाहर नहीं गई, खिड़कीके सींखचेमें लगी और लौटकर इनके चरणोंके पास ही आ पड़ी। इन्होंने अपनी भरपूर ऊँचाईमें खड़े होकर, भौं तरेर कर उसे देखा, मानो वह नीचे पड़ी-पड़ी सिसक उठना चाहती है—मुझे फेंको मत, मुझपर दया करो। मैं बाहर नहीं जाना चाहती। मैं हर किसीके हाथमें नहीं पहुँगी। क्या मैं इस लायक हूँ ? चाहे चरणोंमें ही रक्खो, या यों ही पड़ी रहने दो; पर अपने पास रहने दो। इतनी भीख भी क्या मेरे लिए बहुत है ?

यह मायाका कैसा कठिन अविजित रूप है!

वह देखते रहे, फिर आगे बढ़कर उसपर थूका। थूक ज़रा अलहदा गिरा। जब तक वह थूकमें डूब न गई, तब तक उसपर थूकते रहे,

फिर जोरस दाहने पैरका बूट उसपर दे मारा । दाहना हटानेके बाद, फिर बायाँ । फिर तेज़ीसे एक दम लौट आये और जल्दी-जल्दी कमरेका चक्कर लगाने लगे ।

कुछ ही देरमें, चक्कर काटते-काटते एक दम रुके, मुड़े और चलकर मेज़के किनारे आ गये । वहाँ सुन्न, एक दो-तीन मिनट खड़े रहे । फिर पासकी एक कुर्सीको मेज़के बिल्कुल किनारे खींच लिया और उसके किनारेपर ऐसे बैठ गये, मानो उसपर बैठना नहीं चाहते; केवल उससे अपना अंग छुआए रखना चाहते हैं । बेंत-बुना भाग तो क्या, लकड़ीका अगला किनारा भी पूरा काममें नहीं आ रहा था । कोहनियाँ दोनों मेज़-पर टिका लीं, और झुके हुए चेहरेको दोनों हाथोंकी हथेलियोंमें ले लिया ।

देखते-देखते उन आँखोंमें ओस-सी आई; बूँदें बनकर वह ढरकी; और फिर एक धारा बह चली । चेहरेको और फिर हाथोंको भिगोती हुई कुछ बूँदें मेज़पर टप-टप टपक जातीं, कुछ बाँहोंकी राह कोहनी तक पहुँच जातीं और आस्तीनको भिगोतीं ।

उसी एकटक मुद्रासे बैठे हैं । आँखें मेज़के किस बिन्दुको देख रही हैं, पता नहीं । मेज़को भेदकर और उसके नीचेके फ़र्शको भेद-कर, पाताल और पातालके भी पार किसी अज्ञेयको वह देख रही हैं, और मानो उससे वह पूछना चाहती हैं—मेरा भाग्य कहाँ है ? पूछकर फिर वह उस भाग्यकी टटोलमें जायेंगी ।

....मालिक तुझे क्या जवाब दूँ ? मैंने क्या किया, मैं नहीं जानता । क्यों किया, मैं क्या जानूँगा ? क्या तुझे धोखा दूँ ? क्या तुझे धोखा दे सकता हूँ ? प्रवंचकोंके प्रवंचक और सच्चोंके सच्चे, जब मैं सब-का-सब तेरे सामने हूँ, तो किस चीज़को कहाँ छिपाऊँ ? धोखा देनेके लिए सचाईको कहाँ रक्खूँ ?....

वह वैसे ही बैठे हैं—

....तू क्या कहता है ?....क्या मैंने अँगूठी ली ? क्या सच मैंने ली ? मैं क्यों लेता ?

ली ? ली ? तू कहता है, ली ? क्यों ली ? कहाँ ली ? नहीं न ? हाँ, यही तो, मैंने नहीं ली। ठीक, मैंने बिलकुल नहीं ली....

अब चेहरा हाथोंपर वैसा नहीं टिका है। अश्रुपातकी रेखा अभी दीख पड़ती है; पर स्रोत इस समय सूख गया है। कुर्सीमें पीछे सरक-कर ठीक स्वस्थ बैठ गये।

....मैं यही कहता हूँ, मैंने नहीं ली। कोई नहीं कह सकता, मैंने ली। मैं क्यों कमज़ोर होता हूँ ?

उठ बैठे, फिर टहलना आरम्भ कर दिया।

कोई ज़रूरत नहीं है, कमज़ोरीकी। आये, कोई आये, मैं कहूँगा, तुम झूठे हो, मैंने नहीं ली। बस, फैसला हो गया है, मैंने नहीं ली।

टहलनेमें तेज़ी आने लगी।

....क्या ? इतने निश्शंक हो, तो रोते अभी क्यों थे ? रोते थे, तो चोर हो गये, वाह ! कमालका तर्क है ! रोनेसे क्या हुआ ? अपने मालिककी गोदमें जाकर तो रोया ही जाता है।....हाँ, कुछ तो बात होगी ही, कुछ तलीमें हुए बग़ैर रोना नहीं आता !....नहीं आता, तो नहीं आता ! और तलीमें है तो है, तलीमें सब कुछ है; पर किसीका क्या ? अब तो दुनिया कुछ कहे, मैंने तो एक ही बात सुन ली और वही अब मेरी बात है। चोर हूँ ? अच्छा, चोर हूँ।....पहले देखूँ तो, कौन आता है कहने मुझे चोर ? हिम्मत चाहिए। किसमें हिम्मत है ! मेरी तरफ़ सचाईका ज़ोर है, और सचाईसे बड़ी ताकत कहाँ है ? सब कुछ इसके सामने जल जायगा, और सचाई यह है, कि मैंने नहीं ली....

तब अँगूठीकी बात याद आई । गये, थूक अभी सूखा नहीं था, वहाँसे उसे उठाया, धोया और अन्दाज़से जहाँ जगह निश्चित कर सके, कि यहाँ दास्ताने और उनपर यह अँगूठी रक्खी गई थी, वहाँ ही रख दिया ।....

सच यह है कि अँगूठी जहाँ थी, वहाँ है । जब वह वहीं है, तब मैंने जैसे ली, वैसे नहीं ली, जैसे उठाई वैसे नहीं उठाई, जैसे छुई, वैसे नहीं छुई । इससे मैं कह सकता हूँ कि मैंने उसे देखा ही नहीं। अँगूठी वह रक्खी है, बस । कोई अब मुझे नहीं छेड़ सकता। मुझे कोई तंग न करे । मैं अब सोऊँगा ।

कुर्सीपर आकर सोनेका उपक्रम करने लगे ।

दो मिनट बाद अहमद याद आया । अहमद नहीं आया ! वक्त नहीं हुआ ?....नहीं, मेज़पर अँगूठी ठीक नहीं । उठाया, और दाहने हाथकी मुट्ठीको जेबमें कर लिया । बायेंसे घड़ी निकाली—अभी सवा-ग्यारह नहीं हुए !

उठ बैठे । अँगूठी हाथमें उछालते-उछालते चलने लगे ।

....यह मेरी शर्मकी याद है, इसे नष्ट कर डालना होगा । पता लगाकर साहबको जितने हज़ार कहेगा, उतने रुपये दे दूँगा ।....यह नहीं रहने पायेगी, नहीं रहने पायेगी, शैतानकी पुतली !

इस विचारमें काफ़ी तेज़ी आ गई कि उन्होंने पैरका जूता उतारा, बैठ गये और अँगूठीको जूतेसे पीटने लगे; किन्तु अँगूठी, मानो अपनी याचनामें, वैसी ही दृढ़ रही । थककर खड़े हो गये, जूता वहीं फ़र्शपर छोड़ा, उसे चबाने लगे; पर दाँतोंसे बहुत ज़ोर लगाने पर भी वह नग-का तो क्या, सोनेका भी कुछ बिगाड़ न सके ।....कम्बख़्त ! शैतानकी आँतकी बनी है !....

एक पैरमें जूता, एक खाली हालतमें, और तरकीब सोचते-सोचते घूमने लगे। कुर्सी और मेज़ोंके पायोंसे अँगूठीका कुछ न बिगड़ा। जो चीज़ मिली, उसीसे बहुत चोटें अँगूठीपर की गईं। वह मानो अपनी प्रार्थनाकी याद दिलाती हुई और खिलखिलाती हुई इस प्रकारकी हरएक परीक्षासे अक्षुण्ण पार निकल आती, और मानो चुनौती देती हुई कहती—मुझे चाहे अग्नि-परीक्षामें परखो। मैं तो तुम्हारी हो चुकी हूँ। तब बड़ी मेज़के नीचे जाकर, प्रयत्नसे उसे उठाकर, उसके पायेके नीचे उसे रक्खा, और मेज़पर खड़े हो गये, खड़े होकर ज़ोर दे-देकर उस-पर कूदे। जब नीचे देखने गये, तो अँगूठी ज्यों-की-त्यों थी। जहाँ तक सूझ पहुँची, यही उपाय अपनाया; दीवारोंपर उसे रख मुक्कोंसे पीटा, किवाड़ोंमें दबाकर चूर कर देनेकी कोशिश की; और जो कुछ चीज़ मिली उसकी चोटें भी जी भरकर दे लीं; पर अँगूठी अटूट बनी रही। मानो उनके अध्यवसाय, उनके निश्चय, उनके प्रणको यह ज़रा-सा तुच्छ पदार्थ चुनौती दे रहा हो। उनका सारा ख़याल इस अपदार्थको और इसकी हठको कुचल डालनेपर तुल गया।

मानो विधाता वाम है। प्रत्येक युक्ति अकारथ जाती है और वह उतनी ही प्रबलतासे अपने प्रणमें और भी कर्मशील होते जाते हैं।

थक गये हैं। अँगूठीको मेज़पर रख दिया है। जी होता है, चबा डालें; पर चबती है नहीं, और खाना चाहते नहीं।

पसीना पोंछ डाला। बड़ी गर्मी है। कोट उतार दिया। हाँफते-हाँफते टहलते रहे।....

यह मेरी मखौल उड़ाती हुई, मेरी शर्मकी याद दिलाती हुई यों ही जिन्दा रहेगी!...मुझसे जीतकर जिन्दा रहेगी?....नहीं उसे जीता रहने दिया जायगा।....

चक्कर काट रहे हैं ! जैसे बाघ चक्कर काट रहा है । जिन दाँतोंसे सींखचोंको काटनेका प्रयत्न किया, सींखचोंके न कटनेपर उन दाँतोंको आपसमें ही कटकटाकर काट डालना चाहते हैं ।....क्या करूँ ? नहीं रहेगी यह जिन्दा । मैं चोर नहीं हूँ, मैं शेख़ हूँ, जागीरदार हूँ, और यह जीती रहकर यही ख़बर फैलायेगी कि मैं चोर हूँ। मैं—चोर !.... ओह बड़ी गर्मी है ! (टाई खोल-खालकर फेंक दी) कैसी गर्मी है, अन्दर तक घुसी जाती है । ओह, पसीना-ही-पसीना, पसीना है कि समंदर उबल रहा है। पोंछते-पोंछते थक गया । निकलते-निकलते यह नहीं थकता।

पतलूनपर एक कमीज, और एक पैरमें एक जूता डाले, ज़ोर-ज़ोरसे टहल रहे हैं, हाँफ रहे हैं । बालोंको दोनों हाथोंसे ज़ोरसे पकड़कर खींचते हैं, जैसे समझते है, इस तरह बालोंके साथ शायद सिरमेंसे अँगूठीको कुचल डालनेकी, कोई नई सूझ खिंची चली आयेगी ।

....ओह, गर्मी है, आग है। यह अँगूठी ! मेरे रहते नहीं रहेगी ।

उसे उठाया; ज़ोरसे दीवारमें दे मारा । गिरते ही दौड़कर फिर उसे उठा लिया; और दूसरी ओरकी दीवारमें भरपूर ज़ोरसे मारा । फिर उठाया और फिर मारा । इसी प्रकार अपनी बची-खुची शक्तिका प्रयोग अँगूठीपर प्रहार-पर-प्रहार देनेमें करने लगे । चाहे यों सभी शक्ति क्यों न खर्च कर डालनी पड़े; पर अँगूठीपर प्रहार करनेसे उस समय तक नहीं चूकेंगे, जब तक वह चूर न हो जायगी ।

अँगूठी दीवारसे टकराकर गिरी । दौड़े ।

—है, अब भी हँसती है ? तेरा सिर चूर होगा; चाहे शैतानकी वज्र-अस्थिकी ही क्यों न हो, मैं हूँ तो तुझे तोड़कर रहूँगा ।

उठाया, फिर दे मारा । गिरी फिर भागे,....

थकना मैं जानता ही नहीं । तेरा यह सफ़ेद मुँह, यह खिलखिला-हट, न तोड़ी तो मेरा नाम !

....फिर फेंककर मारी। और फिर, और फिर, और फिर........

× × × ×

अहमद ठीक समयपर बन्द दरवाज़ोंपर पहुँचा । बन्द थे, समझा सो रहे हैं, कल चला जायगा । कल सवेरा होनेपर वह वहाँ पहुँचता है, तो किवाड़ ज़बर्दस्ती खोलनेका यत्न किया जा रहा है । उन्हें तोड़कर अन्दर पहुँचे, तो दीखा, शेख़ साहब कुर्सीपर पड़े हैं, आँखें और नसें निकली हैं। वह शेख़ न थे, शव था।

पोस्ट-मार्टमवाले किसी निश्चित परिणामपर न पहुँच सके कि अन्त किस कारण हुआ। शेख़ भाग्यके दरबारमें उन किन्हीं चोर-द्वारोंसे गये थे जिन्हें वैज्ञानिक अभी नहीं जानते।

अँगूठी, कहते हैं, भंगीको मिली और वह अन्तमें अपने वास्तविक स्वामी—उन अँग्रेज़ सज्जन—के पास पहुँच गई। उन्हें तब पता चला कि अँगूठी इस तरह अनजाने उँगलीमेंसे उस शौचालयमें निकल गई थी।



तमाशा

१

साईकिल द्वारके पासवाली बैठकमें ही रख दी, और भीतर आँगनको पार करते करते चिल्लाए—ओ रे, काठके उल्लू !

सुनयना चौकेके काममें लगी थी। वहाँसे भागी।

दहलीजपर पैर रखते ही इन्होंने सामने पाया सुनयनाको। फिर चिल्लानेको हुए—ओ रे....

तभी निगाह पड़ गई सुनयनाकी उँगली, जो ओठोंके आगे होकर हुक्म दे रही थी—चुप।

यह, अधबीचमें ही चुप।

उँगली, वहाँ ओठोंकी चौकीदारीपर, क्षणके कितने भाग तक रही? वह वहाँ आ गई और हट गई, और पलका बहुत भाग शेष रहा। उसके हटते ही ओठोंके द्वारको खोलकर बंद बात झट बाहर निकल आई—'हें-हें। चिल्लाओ मत। सो रहा है। जग जायगा।'

कैसे कहें, इतनेमें पल पूरा खर्च हो चुका था।

यह, पहलेसे भी जोरसे बोले—'ओ हो, पर्दुमन साहब सो रहे हैं।'

'बोलो नहीं, मैंने कहा'—यह पत्नीने भी जोरसे कहा।

'यह सोनेका वक्त है?' कहकर एक तरफ हलके हलके झूलते हुए पालनेको देखने लगे, जैसे उस प्रद्युम्न नामक काठके उल्लूको कहना चाहते हैं—'सुना? यह सोनेका वक्त है?'

सुनयनाने देखा, वह साग छोंकते छोंकते चली आई है। और उसका

यह पति है विलक्षण जीव। वह चुपचाप पालनेके पास गई, हल्के-पुल्के दो-एक झोंटे दिये। बात की और ज़रा देखा—और रसोईमें चली गई।

पत्नीके चले जानेपर विनोद-भूषण बड़े दबे पाँव पालनेके पास पहुँच गये। प्रद्युम्न बेखबर सो रहा था। जैसे हँसते हँसते सो गया है, मुँह उसका अब भी हँस रहा था। मानों नींदकी परीकी गोदमें वह बड़ा मगन है।

मुँह खुला था, बाकी एक तौलियेसे ढँका था। और मुँह ऐसा था, गोल-गोल कि बस। और दो लाल-लाल लकीर-सी कलियाँ, उस नन्नी-नुन्नी नाक नामक वस्तुके नीचे, हिल-मिलकर मानों खेल रही थीं। वे ओठ चिपटकर बंद नहीं थे, जरासे खुले थे, जैसे जो ईषत् स्मित हास्य भीतरसे फूटकर बाहर आकर व्याप्त हो गया है, वह निकलते वक्त इन्हें खुला ही छोड़ गया है, बंद करना भूल गया।

विनोदभूषणने धीरे-धीरे अपना हाथ बंद आँखोंकी रक्षा करती-हुई पलकोंपर फेरा। जैसे उन्हें अपने कामपर आशीर्वाद दे रहे है। 'इस नन्हींसी जानको ये दो झरोखे मिले हैं, जहाँसे हम उसमें झाँक सकते हैं और जहाँसे यह हमें देखकर पहचान सकती है। हमारी आत्मा यहींसे एक दूसरेमें मिलती है। और देखो भाई, तुम्हारे आश्रयके नीचे इन्हें रक्खा गया है। ख्याल रखना, यह हमारा नन्हासा फूल है, इसे खूब अच्छी-अच्छी तरह सुलाना'—धीमे-धीमे फेरकर मानो अपने अंगुलीस्पर्शद्वारा यह संदेश और आशीर्वाद उन्होंने पलकोंको दिया।

हाथ उठानेपर फिर अपने उस सोये फूलको देखते रहे। फिर पैरोंपरसे तौलिया हटाया। चिकने-चिकने, गुलाबी, वे मक्खनके पाँव तौलियेसे उझँककर सामने दिखाई दिये। मानों कह रहे हैं—'हम मुँहसे कम हैं? आँखसे कम हैं?'

उन्होंने देखा—ये कभी, किसीसे, किसी भी हालतमें कम नहीं हैं। देखते-देखते पैरोंकी उँगलियाँ हिली-डुलीं, और सिर झुका-फिराकर मानों कहना चाहने लगीं—'हम भी खेलती हैं, हमें भी प्यार करो।'

इन्होंने बारी-बारीसे झुककर उन दसों अँगुलियोंका चुम्बन लिया। फिर उन्हें उसी तरह तौलियेसे ढँक दिया।

तब पालनेको दो-एक धीमे झोटे दे, वह कचहरीके कपड़े उतारने और हाथ-मुँह धोकर स्वस्थ होने चले गये।

२

बहुत बरसोंमें यह बालक उन्हें मिला है, इसलिए बड़ा प्यारा है। व्याहके साल दो-एक बाद ही पति-पत्नीको एक बच्चेकी चाह हो आई। इस चाहने बाँध उठा दिया, सोते फूट निकले, और समग्र शरीर और हृदयसे रिस-रिसकर वात्सल्य बहने लगा। वह निर्झरिणी बनकर कहीं बरस पड़ना चाहता है।

लेकिन झरझर करके जिसपर बरसे, वह है नहीं। इसलिए, पुत्रकी कामना और पुत्रके अभावने मिलकर जो अन्तरमें एक रिक्त पैदा कर दिया है, वह वात्सल्य चारों तरफ़से बह-बहकर वहाँ आकर जमा होने लगा। बरसपर बरस बीत गये। स्नेह संचित होता-होता हृदयमें लबालब भर गया है। इतना भर गया है कि कभी-कभी किनारोंको तोड़कर आँखोंकी राह थोड़ा झर पड़ना उसके लिए आवश्यक हो जाता है।

इधर देवाधिदेव महादेव इन स्नेहामृतोंकी बूँदोंसे अपनी एक छोटीसी शीशी पूरी भर लेनेकी प्रतीक्षामें थे। पार्वतीजीके सिर-दर्दके लिए उसकी उन्हें ज़रूरत है। आखिर बूँद बूँद होते, दस बरसमें वह शीशी पूरी भर गई। तब महादेवजीने चैनकी साँस ली।

तभी ग्यारहवें बरस इनको मिल गया प्रद्युम्न । वह संचित स्नेहका स्रोत तब अजस्र इसपर बरसने लगा ।

लाड़-प्यारमें यह अब पाँचवाँ महीना पार कर गया है। छठेको भी तेज़ीसे पार करता जारहा है । बड़ा सुभागवान् है ।

बड़ा नामवाला है । अभीसे कई इसके नाम हैं । साहित्यका श्राद्ध करके बालकके वकील पिताने प्रद्युम्नको संस्कृत बनाया है, पर्दुमन । कोई शुद्धि-प्रेमी जब कहता है—प्रद्युम्न, तब इन वकीलको उसपर बड़ा तरस होता है । देखो, नाम भी ठीक नहीं बोला जाता, पर्दुमन । और तभी संशोधन कर देते हैं, कहते हैं—'क्या प्रद्युम्न, प्रद्युम्न ? ठीक बोलो, पर्दुमन ।' और यदि यह पर्दुमन-नाम-धारी जीव ऐसे उत्कट समय इनके पास ही होता है, तो दोनों हाथोंमें उसे अपने सिरसे ऊपर उठाकर कहते हैं—'क्यों बे, काठके उल्लू, है न तू पर्दुमन ?' जब वह काठका उल्लू उस साहित्य-हत्यासे सहमत होता है, तब तो दाँत-विहीन मुँहको फैलाकर, हाथ-टाँग और आँख नचाकर हँसता है और बोलता है—'हउ ।' इसपर वकील साहब कहते हैं—'है पूरा काठका उल्लू ।'

ऐसा भी होता है कि वह छोटे साहब कभी शुद्धताके पक्षमें हो जाते हैं और पिताके धृष्ट प्रश्नपर मुँह बिगाड़ लेते हैं और रोते हैं—'हु-ऊँ, हु-ऊँ ।' उस समय वकील साहब तुरंत परास्त हो जाते हैं और अपने इस छोटेसे विरोधी प्रतिपक्षीको कभी गोदमें लेकर और कभी कंधेपर बिठाकर डोलने लगते हैं और कहते हैं—'अच्छा, प्रद्युम्न-प्रद्युम्न ।' लेकिन शिक्षित वकीलकी साहित्यिक धृष्टतापर छोटे बाबूको होता है क्षोभ बहुत, जल्दी शान्त नहीं होता । तब बुलाहट होती है—'लो जी, इसे लो अपने पर्दुमनको । यह तो रूठे जाते हैं ।'

इसपर, जहाँ भी होती है वहींसे आकर, सुनयना उसे पुचकारती-पुचकारती गोदीमें ले लेती है, कहती है—'हमारा लाला बेटा चाँद है, चाँद। हमारी बेटी चंदो रानी है। रानी है, हाँ तो....पदुर्मन नहीं है।' और यह पुरुषत्वाहंकारशून्य प्रद्युम्न रानी बनकर झट मन जाते हैं और खिल जाते हैं।

प्रद्युम्नके दादी भी है। और एक बाबा भी हैं। दादीकी तो जैसे जान ही इसमें अटकी है। और बाबाकी कुछ पूँछिए मत—दिन-रात, दिन-रात अपने प्रद्युम्नमें ही लगे रहते हैं। उन्होंने बड़ी बड़ी ईजादें की हैं। रोना शुरू करनेवाला हो, तो ज़ोरसे बिहाग गाना शुरू कर दो, गाना सुनने लगेगा, रोना भूल जायगा। ज़ोरकी दो-तीन भारतमाता-की-जय भी रोदन-रोगमें काफी कारगर ओषधि है। गठड़ीमें गुड़ी-मुड़ी करके बिठा दो, और गठड़ीको हाथसे झुलाओ, बड़ा खुश होगा और धीरे-धीरे सो जायगा। ये सब आज़मूदा नुस्खे बाबाने तैयार किये हैं, और रोज़ नये-नये करते रहते हैं। एक तो अमोघ और अचूक है। कैसी भी हालत हो, एक कपड़ेके टुकड़ेपर उसे लिटाओ, एक ओरके छोर एक पकड़े दूसरीके दूसरा, और झुलाओ, फौरन हँसेगा।

इसको लेकर बाल-मनोविज्ञानमें बड़े बड़े मौलिक अनुसंधान भी बाबाने किये हैं।

बाबाने तय किया है, इसे गुरुकुलमें पढ़ायँगे। उसके माथेमें बड़ी विद्या लिखी है। धन तो ज्यादे होगा नहीं, हाथकी रेख ही ऐसी है,—और हमें धन चाहिए ही क्यों? पर विद्वान् तो ऐसा होगा कि एक। और उस भावी विद्वान्के गालपर एक चपत जड़कर कहते—क्यों बे, होगा न विद्वान्! चपतकी चोटसे भाग्यमें विराजी विद्या डरके मारे भाग जाती होगी,—सचपत प्रश्नके उत्तरमें वह रोने लगता। तब

बड़े प्यारसे उसे कंधेपर लेकर बाबा कहते—' नहिं, भाई नहिं। हमारा बेटा विद्वान् काहेको बनेगा ? विद्वान् बने कोई और। हमारा बेटा तो घसखुदा बनेगा।' इस आश्वासनपर वह शान्त हो जाता, और सम्मिलित मंडलीमेसे वकील हँस पड़ते, सुनयना हल्की असहमति प्रकट करती, और दादी तीव्र प्रतिवाद करती—' ऐसा मत कहो। राजा बनेगा, राजा।'

इसतरह बहुतोंकी आशाओंकी टेक, यह प्रद्युम्न, बहुतोंके एकान्त आशीर्वाद और स्नेहकी छाँहके तले पल रहा था।

जिस रोज़का जिक्र है, उससे कुछ रोज़ पहिले बाबा और दादीको विनोदने पहाड़ भेज दिया था। दिल्लीमें बहुत गर्मी पड़ने लगी थी। खुद भी अदालतकी छुट्टियोंकी बाट देखता था। हाँ, तो वह जाय।

पालनेके पाससे आकर कपड़े उतारनेके बाद उसने डाक देखी। मसूरीसे प्रद्युम्नके बाबाने उसे बहुत बहुत याद किया है। विनोदको छुट्टी पाते ही प्रद्युम्नको वहाँ ले आना चाहिए। दादी तो प्रद्युम्नकी ही रट लगाये रहती हैं।

विनोदने देखा छुट्टीमें अब पाँच-सात रोज़ तो रह ही गये है। लिख दिया—'अम्माँ, बस अब आया। अम्माँको छोड़कर मुझसे क्या रहा जाता, पर यह अदालत है, मनहूस। सनीचरको चल दूँगा।' और सोचा, कैसा बड़भागी है मेरा प्रद्युम्न, सबका मन मोह रक्खा है, सबकी आँखोंका तारा बन गया है। हाथ-मुँह धोकर वह पालनेकी तरफ़ चला।

३

पिछले अध्यायमें नामकी बात छेड़कर उसे कहना भूल गये।

नामोंकी संख्या असंख्य है, और उनमें रोज़ बढ़ती होती जाती है।

यह प्रद्युम्न नाम तो नाम नहीं है। अच्छे सभ्य अतिथियोंको बतलानेके ही काममें यह आता है, व्यवहारमें नहीं आता। यों भी अधूरा है। यह नाम कोई ले ही, तो 'बाबू प्रद्युम्नकुमार साहब' लेना चाहिए, तब पूरा होता है।

नामोंमें शामिल हैं—पद्दो, पद्दी, पदुआ, पर्दमा, पम्मू, पेमो, पद्मा, पद्मावती आदि। कच्चे-पक्के सभी शिल्पकारोंने इस प्रद्युम्न नामक मूल धातुको मनचाहे अनुरूप गढ़-गढ़ाकर अपने कामके लायक़ बना लिया है। कुटुम्बका एक दो वर्षका बालक इसे देखकर कहता है—'पुन्' और मानों अपनी इस मौलिक शिल्प-क्षमताका भान करा देनेके लिए अपनी माँकी ओर मुड़कर कहता है—अम्मा, पुन्। और कहकर क़हक़हा लगाकर हँसता है।

विनोदबाबूकी अँग्रेजी शिक्षा और अँग्रेज़ी प्रतिभाने भी इस सुगढ़ और सुकर मूलतत्त्वपर अपनी सिरजन-क्षमताको आज़माया है। प्रद्युम्न-को संस्कार देकर बनाया गया है—'पूअर डेमन'। कभी कहते हैं 'पुर्दमैन'—पुर्तुगाल देशसे चयकर आया हुआ जीव है। ज्यादह शरारत सूझती है, तो कहते हैं, यह है 'फ़ोरडेम'। कहते हैं बस 'फ़ोरडेम्ड' है, घसखुदा बनेगा।

लेकिन ये नाम अधिकतर तात्कालिक स्फूर्तिके और क्षणस्थायी होते हैं। असली, बना-बनाया, यथागुण, परिचित, बढ़िया और चिरस्थायी नाम तो वही है—'काठका उल्लू।' और यह पाँच मासका जीव किसी नामको स्वीकार करता, और उसपर प्रसन्नता प्रकट करता जान पड़ता है, तो इसीपर। सबसे ज्यादा प्यारका और खुशीका नाम यही है।

एक नाम और भी है——नंबर चार। आपको यह बतला देना इस लिए भी जरूरी है कि आप जीवनमें गणितके एक मौलिक उपयोगसे परिचित हो जायँ। देखा जाय तो यह नाम सबसे ज्यादे अर्थ और अभिप्रायपूर्ण है। कुनबेमें चार बालक हैं, जिनके नाम स्थिर नहीं, बनते बिगड़ते रहते हैं, और इसलिए जिनका स्थायी नाम लल्लू ही पड़ा हुआ है। विनोदबाबूने गड़बड़ मिटानेके लिए, सबसे बड़ेका नम्बर एक, दूसरेका दो, और इसी तरह सबसे छोटे इस चौथेका 'लल्लू नंबर चार'—— ये नाम रख दिये हैं। यह चौथा तो है काठका उल्लू, लेकिन शेष तीनोंको विनोदबाबूने अपने-अपने नंबर अच्छी तरह याद करा दिये हैं। बालक कोई मिलता है तो विनोद ज़ोरसे बोलते हैं——' लल्लू नंबर.... ?'

बालक बहुत ज़ोरसे चिल्लाकर कहता है——दो।

इस प्रकार सब अव्यवस्था मिटा-मिटूकर विनोदने घरको व्यवस्था और अनुशासनके मार्गपर डाल दिया है।

विनोद शासन करना नहीं जानता, बस विनोद-ही-विनोद जानता है। कहता है, घर शासन-शून्य हो तो एक रोज़ होते होते विश्व शासनशून्य हो जायगा और यही मोक्ष है। शासनको जगह वहाँ होती है, जहाँ प्रेमको जगह नहीं। और जब किसीमें इतना प्रेम नहीं जो घरमें फैला रह सके, तो वह आदमी कैसा!

सुनयनासे उसने कई बार कहा है——देखो, पैसेसे और सामानसे लोग घरको क्यों भरते हैं? इसलिए कि वह घर आनन्दसे भरा रहे। असली चीज़ यह है। लेकिन लोग हैं बेवकूफ, असली चीज़ भी कहीं बाजारमें मिलती है? वह कभी पैसोंके भाव आती नहीं। लेकिन हम-तुम नहीं बनेंगे बेवकूफ। क्यों, है न? जान-बूझकर क्यों बनें बेवकूफ?

पैसा रहे रहे, न रहे न रहे, सामान भी चाहे न रहे, यहाँ तक कि रोटी-की भी चाहे कमी पड़ने लग जाय, पर घर हमारा सदा चुहलसे भरा रहेगा। बस, यही बात है।

सुनयना जानती थी पैसेकी कमीकी आशंकाके लिए सुदूर-भविष्यमें भी स्थान नहीं है। इसलिए उत्तरमें कह देती—हाँ। बात तो उसकी कुछ विशेष समझमें नहीं आती थी। पर पतिकी बातके जवाबमें हाँ कहनेमें उसे सुख मिलता था, क्योंकि पति उसकी बातके जवाबमें हाँ कहनेको सदा उद्यत रहता था।

बस इस खुशीके सिद्धान्तके अतिरिक्त और उसका कोई सिद्धान्त नहीं था। और कोई धर्म नहीं था।

और इस खुशीको चरितार्थ, सजीव और सम्पूर्ण करनेके लिए उतर आया था यह मंगलमूर्ति प्रद्युम्न। विनोदने समझ लिया, मेरे जीवन-सिद्धांतके समर्थनके प्रमाण स्वरूप ही परमात्माने इसे भेजा है, हमारा घर अब स्वर्ग बनेगा। पालनेके पास आकर शिशुको देखने लगे। वह निश्चेष्ट सो रहा था।

देखते-देखते यकायक उसके ओंठ फैले। यह क्या, क्या हँसेगा?—अरे, यह तो हँस रहा है! वाह!

सोते बालकका यह मुस्कराना देख बड़ा कुतूहल हुआ, बड़ा विस्मय हुआ। विनोद इस अचरजकी बातपर मतिभ्रष्ट होकर बड़े चकराये और बड़े आनन्दित हुए।

कोई मीठा सपना दीखा दीखता है। वाह भई, खूब हँसे।....

इतनेमें ही फिर बच्चा मुस्कराया। अबके मुस्कान देरतक मुँहपर रही।

विनोदने कहा—अरे, आना तो। देखो-देखो, क्या तमाशा हो रहा है?

विनोदका इस मामलेमें कौन भरोसा करे। सुनयना तो फ़िजूल चौकेसे उठकर नहीं जाती। वह बोली भी नहीं, चुप रही।

विनोदने लेकिन चिल्लाया—जल्दी आ, जल्दी! बिल्कुल फ़ौरन।

सुनयनाने देखा, पीछा नहीं छूटेगा। बोली—क्यों चिल्ला रहे हो? यहाँ आओ, रोटी हो गई है। छोड़ो उसे, सोने दो।

विनोदका ध्यान बालकमें है। उसने सुनयनाकी बात जैसी सुनी, वैसी नहीं सुनी। बोला—अरे जल्दी आ। झटपट, तुझे मेरी कसम।

सुनयनाने समझ लिया, धुन चढ़ी है तो छुट्टी मिलना आसान नहीं है। अब वह उठकर चली जायगी। बोली—मुझे नहीं लगते यह खेल अच्छे। काममें लगी हूँ, नहीं आती। कैसे आऊँ?

विनोदने त्रस्त भावसे कहा—ऊँह, जल्दीसे आ। देर कर रही है। फिर सारा खेल बिगड़ जायगा।

यह सुननेसे पहिले ही आनेको वह उठ खड़ी हो गई थी। 'लो, आती हूँ' कहती-कहती वह आ गई, और विनोदका, मानों बड़ी झुँझलाहट-में हाथ पकड़कर बोली—बोलो।

इस पाणिग्रहणने हठात् विनोदकी दृष्टिको सुनयनाकी ओर उठा दिया। बोले—देखो।

लेकिन जहाँ देखनेको कहा गया वहाँ देखनेको खाक भी न था। बालक यथावत् सो रहा था।

सुनयनाने कहा—क्या देखूँ?

विनोदने अभियुक्तकी भाँति उत्तर दिया—अभी-अभी हँस रहा था। ठैरो, अब फिर हँसेगा।

सुनयना बोली—मैं तो नहीं ठैरती। पराँवठा जल जायगा।

विनोदने हाथ पकड़कर कहा—ठैरो भी। बस, जरा ठैरो। तुम इतनी देरमें तो आई, मैं क्या करूँ ? अब फिर हँसेगा।

'तुम तो ठाली हो' कहकर ठैरनेको सम्मत होकर वह खड़ी रही।

लेकिन प्रद्युम्न अब क्यों हँसे ? हँसनेके इरादेका कोई चिह्न उसके मुखपर नहीं दीखा।

विनोदने कहा—हँसेगा। देखती रहो। हँसेगा, एक बार ज़रूर।

दिलासा मानो उसने अपने प्रवंचित हृदयको दी।

सुनयना जायगी तो नहीं, लेकिन बोली—मैं तो जाती हूँ।

विनोदने कहा—न हँसे तो मेरा नाम। सहसा, देखा कि, प्रद्युम्नका मुँह खुला....

विनोदने विजय-स्वरमें कहा—देखो-देखो। मैंने कहा था न ?

लेकिन मुँह फैला नहीं, ऊपरको खुला। और बालक मुस्कराया नहीं, उसने जम्हाई ली।

सुनयनाने कहा—यह हँसी होगी ? बड़ी अच्छी हँसी है तुम्हारी !

विनोदके लिए किंतु यह जम्हाई कम विस्मय और कम आह्लाद और कम रहस्यका पदार्थ नहीं है। कहा—अरे यह तो जम्हाई भी लेता है ! बिल्कुल हमारी तरह लेता है। देखा तुमने, बिल्कुल हमारी ही तरह इसने जम्हाई नहीं ली ? बिल्कुल वैसे ही मुँह नहीं फाड़ा ?

यह कहकर जैसे विनोद कुछ सोचमें पड़ गया। जैसे बुद्धि किसी गहरे तत्त्वके अनुसंधानमें चली गई है और बड़े भारी भेदकी बात खोलनेका काम उसपर आ पड़ा है। विनोदने, बड़ी चिन्तित मुद्रासे पूँछा—क्यों जी, यह छींकता भी है ?

सुनयना खिलखिलाकर हँस पड़ी।

विनोदने कहा—तुम तो हँसती हो । सच बताओ, यह हमारी-तुम्हारी तरह छींकता भी है ? बिल्कुल हमारी-तुम्हारी तरह ?

सुनयना और भी हँसी, बोली—यह क्या हो गया है तुम्हें ?

विनोदने कहा—अच्छा, जम्हाई लेता है, छींकता है; क्या वैसे अंगड़ाई भी लेता है ?

पत्नीकी हँसीका क्या पूछना ?

विनोदने और पूँछा—और वैसे ही खाँसता है ?

सुनयना खूब ही हँसी । हँसते-हँसते ही विनोदका हाथ पकड़कर जैसे खींचना चाहते हुए, कहा—चलो अच्छा, खाना खाने चलो ।

विनोदने कहा—तो यह पाँच महीनेका बच्चा पूरा आदमी है । जम्हाई लेता है, छींकता है, खाँसता है, सब कुछ है । सारे व्यापार करता है । यह तो बड़ी खूब बात है ।

पतिकी इन मूर्ख बातोंका वह क्या जवाब दे ? लेकिन सुन बड़े ख्यालसे रही है, इनकी गाँठ बाँध लेगी, और मौक़ोंपर इनका उपयोग करेगी । जब बघार रहे होंगे पंडिताई, तब छाँट-छाँटकर उनकी इन मूर्खताओंको पेश करेगी ।

खींच-खाँचकर वह उन्हें रसोईमें ले गई ।

५

खिला रही थी कि लल्लू रोया ।

सुनयना पतिको थालीपर छोड़ झटसे उसे लेने दौड़ गई । गोदीमें हिलाती-हिलाती डोल-डोलकर गाने लगी—

आरी चिड़िया आ री आ
लल्लूकी चिड़िया आ री आ
लल्लूकी निंदिया ला री ला
लल्लूको सुलाती जा ।

अपनी अम्माँके इस आशु-कवित्वपर पहले तो वह लल्लू मुग्ध होता न दीखा। कुछ देर बाद, वह मनने लगा—जैसे सोच-साचकर अपनी कवियित्री माँकी कविताका सम्मान करना उसने तय कर लिया। धीरे-धीरे फिर वह सो चला।

इस समय विनोदने कहा—पानी दे दो।

सुनयना बोली—मैं तुमसे कबसे कह रही हूँ, इसके लिए एक नौकर रख दो। अब मैं इसे खिलाऊँ कि पानी दूँ? मैं ही जानती हूँ, कैसा पिसना पड़ता है मुझे।

विनोदने कहा—अच्छा, मैं ले लेता हूँ पानी।

लेकिन सुनयनाके रहते पानी खुद कैसे लेंगे? बोली—हाँ, पानी तो ले लोगे, ये नहीं कि मैं कहती हूँ, सो नौकर रख दो।

इतना कहकर लल्लूको फिर पालनेमें लिटा दिया, और पानी दे दिया। बोली—सच, देखो, बड़ी दिक्कत होती है। नौकर रख लोगे तो वह बाहर भी घुमा लाया करेगा। अकेली घरमें मैं ही तो हूँ—सो सारा घरका काम भी और बच्चेकी सारी देख-सँभाल भी।....यह एक पराँवठा और लो....अच्छा आधा....

विनोदने इस सत्यको प्रत्यक्ष देख लिया है। वह क्या सुनयनापर कामका वहुत बोझ रखना चाहता है। लेकिन गंभीर, चुप है।

सुनयना कह रही है—और, देखो तुमने कहारिन भी नहीं रक्खी। मै कबसे कह रही हूँ। तुम्हें ऐसा क्या हो गया है। मेरी बात कानपर ही नहीं लाते। इससे सुनी उससे निकाल दी। ऐसे तो मैं एक रोज़ चल दूँगी, फिर तुम सोचेगे, मैंने उसकी बात क्यों नहीं मानी।....

विनोद क्या मन-ही-मन इस अप्रिय बातको खूब अच्छी तरह नहीं

जानता ? लेकिन अपनी इस प्यारी सुनयनाकी बातोंपर एकदमसे 'हाँ' कहना भी उसके सामर्थ्यमें नहीं है।

सुनयनाने कहा—पहले तो कहते थे, बेटा होगा तो यह करेंगे, वह करेंगे। एक गाड़ी रक्खेंगे, तीन नौकर रक्खेंगे। अब यह चाँद सा बेटा मिल गया है, तो कुछ सुध नहीं करते। ऐसी जाने क्या बात हो गई है। पहले मेरा मुँह जोहते थे, मैं कहूँ, तो तुम पूरी करो। अब कहते-कहते हार गई, तुम ज़रा ध्यान नहीं लाते। अच्छा, कहारी जाने दो, लल्लूके लिए एक लड़का जरूर रख दो। देखो इतना कर दो, बच्चा बेचारा आराम पा जायगा।....

विनोदका मन समझता नहीं है, सो नहीं है। और वह मन दुखी भी है, क्यों कि प्रेमसे भरा है। लेकिन विनोदने कहा—बच्चा इसलिए थोड़े ही होता है कि नौकरोंके हाथों वह खेले। माँ-बापको उसे दुनियामें लाकर, अपने ही हाथों उसे दुनियामें अपने पैर जमाकर खड़े होने लायक बनाना चाहिए। और नौकर बड़े ऐसे-वैसे होते हैं, सो बच्चोंको उनके होथों सौंपकर माँ-बाप बड़ी ग़लती करते हैं। और घरमें रुपया है, सो तुम ऐसा कहती हो। रुपया नहीं होता तो क्या करतीं? और रुपया है, इसलिए उसे अपना समझकर मनमाना ख़र्च हम थोड़े ही कर सकते हैं! उसे अपना नहीं समझना चाहिए, अपनेको गरीब ही समझना चाहिए और जितनी जरूरत हो उतना ही खर्चना चाहिए।

विनोदके प्रेमको तो सुनयना समझती है, लेकिन उस प्रेमपर यह जो और एक अजनबी वस्तु हावी हो गई है, उसे बिल्कुल नहीं समझ पाती। बोली—हमारा रुपया हमारा नहीं है, और हम उसमें-से बच्चेके लिए एक नौकर भी नहीं रख सकते, यह तुम कैसी बात कहते हो?

तुममें नेक दया नहीं रह गई है। साफ़ क्यों नहीं कहते, नौकर नहीं रखना चाहते, मुझे ही पीसना चाहते हो।

विनोदने कहा—हाँ, नौकर रखना चाहकर भी नहीं रख सकता। या कहो, नहीं ही रखना चाहता। और चाहता हूँ घरके काम और बच्चेके कामको हमी दोनों आपसमें निभाकर, पिसें नहीं, धन्य हों। और मैं उस धन्य-भावको किसी किरायेके आदमीके साथ साझा देकर नहीं बाँटना चाहता। और रुपया हमारे पास रक्खा है, इसलिए हमारा कैसे हो गया? चोर ले जाकर अपने घरमें गाड़ ले, तो यह फिर उसका हो गया? नहीं, न वह चोरका है, न मेरा है। सब परमात्माका है। हम अपना कहें, तो यह तो वैसे ही हुआ जैसे चोर अपना कहे।

इन गड़बड़ बातोंको लेकर सुनयना क्या करे? संतोष होता नहीं, निरुत्तर हो जाना पड़ता ही है। कहा—रुपया खूब जमा-जमाकर रक्खो। मालूम नहीं उसका क्या करना चाहते हो। और मैं मुफ्तकी नौकरनी मिल ही गई हूँ, सो सब कामसे लदी खिंची-खिंची मौतके दिनतक चली चलूँगी।

ऐसी बात सुनयना कहती तो है, पर यह नहीं कि अपने प्रति पतिके प्रेमके बारेमें जरा भी संदिग्ध है। ऐसी जोरकी और तीखी बात तो इसलिए कहती है कि वह पतिको हराना चाहती है। तर्कके उत्तरमें तर्क न देना आदमीसे नहीं होता, और जब नीचे तलके साधारण तर्कोंकी कमी होती है, तब ऊँचे या गहरे तलके तर्कोंसे काम लिया जाता है। इसी प्रकारका एक गहरा तर्क है, व्यंग; एक है क्रोध; एक है 'धमकी'; और एक है, 'मृत्युका स्मरण और आवाहन'; लेकिन सबसे द्रावक और मूर्तिमान् तर्क है—'आँसू'। सुनयनाने अपने ढँगका तर्क दिया, और साथ ही उसकी पुष्टिके लिए आँखोंमें आ चमके आँसू।

विनोदने कहा—अच्छा-अच्छा रख लो। मैं ढूँढ़ दूँगा एक नौकर। कहारीको भी कहूँगा। लेकिन, सुनिया, उस कहारीके घरमें भी क्या कोई कहारी लगी होगी? क्या नौकरके भी कोई नौकर होगा? फिर हम क्यों दम्भ करें?....

जब पति झुक गया, तो पत्नीने भर पाया। बस, विनोद हार गया; अब पतिकी उस हारको लेकर कोई वह अपने पास थोड़े ही रख सकेगी? उसे क़ायम कैसे भी नहीं रहने देगी। उसका मतलब तो पूरा हो गया, उसका मान रह गया; अब बड़ी कृतार्थताके साथ अपने मानको खंडित करके, अपने उस खंडित मानकी भेंट पतिके चरणोंमें रख देगी। खुद हार जायगी; और पतिकी हारको अपने सम्पूर्ण समर्पणके साथ उसे लौटाकर कहेगी—'देव, मैं तुम्हे हारने नहीं दूँगी। तुम सदा सदा दासीपर विजय पाओ। पर उस दासीका मान भी कभी कभी ऐसे ही रख लिया करो।' सुनयनाने कहा—तो मैं कब कहती हूँ, नौकर रखनेकी। अब कभी नहीं कहूँगी। लल्लूको देख-देख, कभी कह देती हूँ, सो अब कभी नहीं कहनेकी।

विनोदने सुनयनाको देखा। जैसे सुनयनाकी आँखें कह रही हैं—'मैं अलग नहीं रहूँगी। तुममें ही मिल जाऊँगी। तुममें खो जाऊँगी।'

विनोद खा चुके थे, पर थालीपर ही बैठे थे। वहीं बैठे-बैठे उन्होंने पत्नीका हाथ पकड़कर खींच लिया, और उस हाथका चुंबन ले लिया; मानों कहा,—तुम्हें मैं नहीं खोने दूँगा। उससे पहले ही मैं तुममें हो जाऊँगा, तुमसे बाहर होकर शेष नहीं रहूँगा।

६

गोदीमें प्रद्युम्न है। बड़ा मगन है। अभी अच्छी तरह बैठ नहीं सकता; लुढ़क-पुढ़ककर हाथ-पैर इधर-उधर फैंक सकता है। वह हाथ

जब निष्प्रयोजन नाचते-हिलते किसी वस्तुका स्पर्श पा जाते हैं, तो फिर तुरन्त उस वस्तुको मुँहमें पहुँचा देनेका अपना कर्तव्यः मानते हैं। हाथोंके चालन-क्षेत्रमें ठोस रुकावटका पदार्थ बनकर दाखिल होनेका अपराध लेकिन पैरोंसे ही अधिक होता है। टाँगे, न जाने क्यों, कभी सीधी होकर लेटती नहीं है, और पैरोंको उन हाथोंकी पकड़में आने देनेसे डरती नहीं हैं। हाथ एकाध बार तो जैसे देखी-अन-देखी करते हैं। लेकिन जब दूसरेके राज्यमें बिल्कुल गैर-क़ानूनी तौरपर बेजा मदाख़लत करनेसे ये पैर बाज़ ही आते नहीं मालूम होते, तो कर्तव्यवश हाथोंको उनके अँगूठे-रूपी कानोंसे पकड़कर मुँहके दर्बारमें ले जाना होता है। मुँह तब चूस-चासकर उनका संस्कार करते हैं, और दंतविहीन पपोटोंसे दबाकर मानों यह चेतावनी देते हैं—'अब तो इतना ही। लेकिन अब आरहे हैं दाँत। सशस्त्र हो जायँ हम, तब कहीं फिर शरारत मत कर बैठना। नहीं तो तुम्हारे चोट लगेगी। जाओ तुम अब।' फैसला हो जानेपर फिर हाथ-पुलिस अपनी पकड़ ढीली कर देती है, और पैर छिटककर दूर भाग जाते हैं।

अभियुक्त बरी कर दिया गया था, अदालतका घर ख़ाली था, पुलिस-की पकड़में कोई अपराधी आता नहीं था—अब मालकी और कामकी ज़रूरत है। तभी आगई सबेरेकी डाक।

इनमेंसे ज़रूर कोई शिकार हाथमें आना चाहिए। बालककी आँखें उस मालपर लग गईं।

विनोदने एक हाथसे बालकको गोदीमें कुछ और निकट ले लिया। दूसरेको सामने किया।

नौकरने डाक लाकर उस हाथपर रक्खी।

तभी बालकने झपट्टा मारा।

झपट्टा पड़ा ओछा, हाथ तक पहुँचा भी नहीं।

विनोदने कहा—अरे, ठैर रे, काठके....

लेकिन बड़ी सख्त जरूरत है कुछ-न-कुछके मुँहमें पहुँचानेकी। ठहरना बिल्कुल नहीं हो सकता। हाथ लपकना नहीं छोड़ सकते।

विनोदने डाकको नीचे डाला। आलोचनार्थ आये हुए साप्ताहिक पत्रको बिछाया और बालकको उठाकर उसके पास छोड़ दिया। कहा—ले, कर आलोचना। अब तू ही कर डाल। लेकिन थोड़ी करियो, कहीं समूची ही कर डाले कि कुछ मेरे लिए बाकी ही न बचे।

अब अच्छी तरह चबा-चबूकर खाये बिना तो पूरी तरह वस्तुका स्वाद जाना नहीं जा सकता, और उसके तत्त्वके सम्बन्धमें यथार्थ आलो-चना की नहीं जा सकती। इसलिए जोर-शोरके साथ बालकने यही उपक्रम बाँधना आरंभ किया। नीचे पड़े उस साप्ताहिककी छातीपर सवार होकर दोनों हाथोंसे उसके मर्मको पकड़कर अब उदरस्थ किया जायगा।

उसने दोनों हाथ पत्रपर देकर मारे, फिर इकट्ठा करके उनकी मुट्ठी बाँधकर मुँहतक पहुँचाया। मुँहके अंदर जब केवल वे बँधी मुट्ठियाँ ही पहुँचीं, उनके भीतरसे जब कुछ और रस नहीं प्राप्त हुआ, तब पता चला कि इस धराशायी दलित अपदार्थने भयंकर धोखा दे डाला है। अब बड़े मिच-मिचाकर हाथ मार गये। इस बार उन दोनों मुट्ठियोंके बीचमें सिमटा-सिमटाया अखबारका बहुतसा भाग भी उठा चला आया। उस-मेंसे जितना कुछ मुँहमें दाखिल हो सका, उसे आमकी तरह चूसकर स्वादकी परख आरंभ हुई। इधर हाथ अखबारकी खींच-तानमें लगे रहकर कागजकी मजबूती जाँच रहे थे।

किन्तु पत्रकी अत्यंत मिठास और रस-हीनताको जान लेनेमें विशेष देर न लगी। तब बालकने ज़ोर-ज़ोरसे चीख़कर इसकी घोषणा आरंभ कर दी कि पदार्थ नितांत अस्वाद और अनुपादेय है।

ऐसे समय विनोदको हाथकी चिट्ठियोंको फेंक देना पड़ा। उसने बालकको गोदीमें उठा लिया, कहा—'हो गई भई आलोचना!' और साप्ताहिकपर ठोकर मारकर कहा—'हट, किसी कामका नहीं है तू। कड़वा-कड़वा थुः है।' ऐसा कहकर उसे और मारा, और उसपर बिना-थूके थूका। जान पड़ता है, इस प्रकार पत्रके प्रति बालकके मनकी प्रतिकूलता और कड़वाहट तृप्त नहीं हुई। रोना जारी ही रहा।

तब डोल-डोलकर उसे बहलानेके विनोदने अन्य यत्न किये। लेकिन नहीं—

सुनयना झट आ पहुँची थी। उसने पूँछा—क्या है?

विनोद चलते-चलते एक जगह एकदम बैठ गया। पास ही पड़ा था एक चम्मच, उसे उठाकर फ़र्शपर मारने लगा, कहने लगा—आ हा रे, ओ हो रे....।

बालक चुप नहीं हुआ। सुनयनाको आदेश हुआ—वह पंख उठाना।

सुनयनाने पंखा उठाकर ला दिया। उस पंखेकी डंडियोंसे फिर फ़र्शको पीटा जाने लगा। कभी बीच-बीचमें उसीसे बालककी हवा भा की जाती।

उसी समय विनोदको कुछ याद आया। कहा—अरे, वह झुनझुना तो लाना।

सुनयनाने कहा—कहाँ है....

विनोदने कहा—जल्दीसे ला....

सुनयना चली गई।

विनोदने भाँति-भाँतिकी जुगतसे बालकको मनानेकी कोशिश शुरू की।

सुनयना लौटी। उसकी तरफ़ बिना देखे ही विनोदने हाथ फैला दिये, कहा—लाओ।

सुनयनाने कहा—क्या लाऊँ? कहीं मिलता भी हो।

विनोदने कहा—मिलेगा क्यों? कहीं रक्खा जाय ठीक जब न।.... बस, यह हाल है।

सुनयना बोली—हाँ, यह हाल है। बड़े सारे झुनझुने लाकर रक्खे थे न, जो मैंने खो दिये।

विनोदने कहा—अरे, तो कुछ और ला दो। देखो, यह रो रहा है।

सुनयना—ला न दूँ कुछ और। बड़ी चीज़ें ला दी हैं न, जो उठा लाऊँगी। हाँ तो, कहते-कहते हार गई, कभी हाथमें जो दो खिलौने लेकर लौटते हों।

इधर बालकने पास ही एक लावारिस पड़े हुए चम्मचपर कब्ज़ा कर लिया था। इस वस्तुके साथ कुश्ती लड़नेमें उसे रोनेका ध्यान जाता रहा था।

विनोदने कहा—अरे, तुम तो झगड़ती हो!

सुनयनाने कहा—झगड़नेकी बात ही तुम करते हो। सच बताओ, कभी भूलकर कोई खिलौना लाये हो! फिर कहते हो, यह लाना, वह लाना। जिसपर कहते हो, मैं झगड़ती हूँ।

विनोद—अच्छा-अच्छा, अब नहीं कहूँगा।

सुनयना—नहीं, कहोगे क्यों नहीं। पर लाकर दिया भी तो करो। सच, अबके ला देना,—वह होते नहीं हैं, छोटे-छोटे रबर-के-से जापानी खिलौने।

विनोद—जापानी खिलौने ? जापानी कैसे लाये जायँगे ?

सुनयना—तो और ले आना। देसी ले आना।

विनोद—देसी, मट्टीके ? सवेरे आये, शामको टूटे दीखेंगे।

सुनयना—तो काठके ले आना।

विनोद—काठके अच्छे नहीं आते। अच्छे आते हैं तो दाम लगते है बहुत।

सुनयना—तो और कैसे भी ले आना।

विनोद—और कैसी भी कैसे ? कुछ समझमें भी आवे।

सुनयना—तो मत लाना, बस। हाँ, तो। समझमें कैसे आये ? समझमें आये तब जब तबीयत हो। इसमें यह है, उसमें वह है, बस नुक़स इनसे सब बातोंमें निकलवा लो, जो कभी कुछ करके भी रखते हों। कहते-कहते यहाँ जबान घिस जाय, पर इनको क्या पड़ी ? अब मैं भी हूँ, जो कभी इनसे किसी बातको कुछ कहा।

इतना कहकर, एक झपट्टेमें फ़र्श परसे खेलतेहुए बालकको उठाकर, सर्रसे अपने कमरेमें चली गई।

विनोद पहले तो मुस्करानेको हुए, फिर कुछ अप्रतिहत होकर अपनी बैठकेमें लौट आये और कपड़े पहनने लगे।

और बाज़ारसे लाये एक अठारह रुपयेकी मोटर।

डिब्बेसे निकालकर उसमें चाबी भरके आँगनमें ज़रा किसी वस्तुसे अटकाकर ऐसे रख दी कि खुद चले नहीं, और जरा उस प्रतिबंधको सरकाया नहीं कि फर्रसे दौड़ पड़े। फिर उसके ऊपर चादर ढक दी। और गये।

सुनयना बालकको बराबरमें लेकर पलंगपर लेटी है। बालक सो गया है। सुनयनाकी आँखें मुदी हैं, पर सो नहीं रही है। इस बालकके

प्रति खोलकर अपना हृदय सामने रखकर जब इसने अपनी छातीका दूध उसे पिलाया है, तब चुपचाप कुछ आँसू भी डाले हैं। इस छोटे-से अपने कलेजेके टुकड़ेको सामने पाकर भीतरसे कुंठित स्नेहका आवेग आँसू और दूध बनकर बाहर झर गया है। इससे अब वह कुछ स्वस्थ है। और यों आँख मूदे, जगी हुई, कुछ प्रिय स्वप्न ले रही है।

विनोदने दबे पाँव प्रवेश किया। देखता रह गया।

फिर बाँह पकड़कर हिलाते हुए कहा—उठो तो।

ठीक यही स्वप्न वह ले रही थी। और इसी तरह हाथ पकड़कर उठाये जानेका स्वप्न बस अब आ ही रहा था। लेकिन उस वक़्तके आजानेपर किस तरहसे क्या करके उत्तर देना होगा, इसके बारेमें जो कुछ सोचा था वह एकदमसे यादसे उतर गया है, उसीको खींच ले आनेके लिए याद गई हुई है। इसलिए विनोदके उपद्रवके उत्तरमें निरुत्तर होकर वैसे ही आँख मीचे उसे पड़ा रहना पड़ गया।

विनोदने बाँहको और ज़ोरसे हिलाते हुए कहा—उठो-उठो! उठना ज़रूर होगा। और उठकर अभी मेरे साथ चलना होगा।

स्मृति बिल्कुल विलुप्त हो गई है और इस पति नामक देवका उत्पात बढ़ता ही जाता है। सुनयनाने कहा—सोने दो हमें। हम नहीं कहीं जाते।

पतिने कहा—जाना तो पड़ेगा ही। और कहकर इतने जोरसे बाँह-को हिलाया, जैसे द्वारकी कुंडीको पकड़कर बड़े जोरसे हिला बजाकर चेतावनी दी जा रही हो कि इस बारेमें भीतर कोई संदेह हो तो उसे फौरन भाग जाना चाहिए।

संदेह तो सुनयनाके मनमें बिल्कुल नहीं रह गया। लेकिन उसने

कहा—नहीं जायेंगे हम। हमें नींद आ रही है। हाँ तो, एक घड़ी चैन नहीं लेने देते।

विनोदने इसपर दूसरे हाथको भी क़ब्ज़ेमें किया, और दोनोंसे खींच-कर उसे उठाना शुरू कर दिया।

सुनयनाने इस आपत्तिकालमें अपनी टेकको विसारकर, बड़ी शीघ्र-तासे आँख खोलकर कहा—अरे तो छोड़ो, मै खुद चलती हूँ। ऐसा भी क्या!

चल-चलाकर आँगनमें आये। चादरसे ढके पिरामिडको दिखाकर कहा—अच्छा, बताओ, इसमें क्या है?

सुनयनाने कहा—मैं क्या जानूँ?

विनोद—अरे, सोच कर बताओ।

सुनयना—मै क्या जानूँ?

विनोद—ठीक ठीक बताओगी, तो चार पैसे मिलेंगे।

सुनयना—मैं नहीं जानती।

विनोद—अच्छा, एक है ताजबीबीका रोज़ा, दूसरा है कुतुब-मीनार। इन दोनोंमेंसे यह क्या चीज़ हो सकती है?

सुनयना—मैं कुछ नहीं बताती।

हार-हूरकर विनोदने कहा—अच्छा तो जरा दूर हो जाओ। जो कुछ है वह काटनेको दौड़ेगा।

सुनयनाकी मंशा तो दूर होनेकी नहीं थी, पर कुछ निकलकर इसमेंसे सचमुच काट-कूट खाय तो? वह पीछे हट गई।

विनोदने चादर हटानेमें सफ़ाईसे वह रुकावट भी दूर कर दी।

फर्र-फर्र करके मोटर वह-जाय वह-जाय।

जब देखा कि यह मोटर सत्याग्रह करके इस दीवार या उस चीज़से टक्कर खाते-खाते बाज़ ही नहीं आती, तब उसे यत्नसे दबोच-दबोचकर काबू करके विनोदने बक्समें बंद कर दिया।

सुनयनाने पूँछा—यह क्या ले आये ?

विनोदने कहा—तुम कहती थीं खिलौना-खिलौना। मैंने भी कहा—लो।

सुनयना—यह विलायती थोड़े ही है ?

विनोद—अरे, विलायत बड़ी कि तुम ?

सुनयना—लल्लू तो इसे बड़ा खेलके रक्खेगा न।

विनोद—तो न लाता ?

सुनयना—लाते तो छोटे-छोटे लाते, जो कुछ कामके भी होते लल्लूके। उठा लाये यह ढीम!—कितनेका है ?

विनोद—भई, यह बड़ी मुश्किल है। अब कितनेका ही हो, तुम्हें क्या। जब पसंद ही नहीं आया, तो जाने दो।

सुनयनाने एकदम विनोदका हाथ पकड़कर कहा—नहीं, सच, कितनेका है ?

विनोदने कहा—कितनेका है ? है अठारह रुपयेका। अब कह दिया तो कहोगी, मैं हूँ बेवकूफ।

सुनयनाने बहुत हँसकर कहा—तो ठीक तो है। अठारह डाल आये, जब पाँचमें दुनिया भरके खिलौने आ जाते और लाये भी क्या कि........

विनोदने झट उसके मुँहपर हाथ रखकर कहा—तुम्हारा सिर।

७

दफ्तरसे लौटकर आये हैं। अब खाना खा-वाकर कचहरी जायँगे। उसी समय सुनयनाने आकर सूचना दी—लल्लूको खाँसी बड़ी उठने लगी है। न जाने कैसा जी है।

विनोदने कहा—खाँसी ?

सुनयनाने कहा—हाँफ-हाँफ जाता है। ऐसी उठती है कि फिर बड़ी देरमें रुकती है। बड़ी तकलीफ़ देती है।

विनोदने कहा—अरे, क्या खाँसी-वाँसी। ये तो हुआ ही करती हैं। ज्यादे वहम नहीं किया करते।

सुनयना—किसीको दिखा-दुखू देते ज़रा। रोग बढ़ जाय, फिर हाथ नहीं आता।

विनोद—क्या दिखाना-दिखूना करती हो। अभीसे समझ बैठीं कि रोग हो गया। भला खाँसी भी रोग है ? पर पहलेसे ही सोचने लगोगी तो रोग न होगा, तो हो जायगा।

सुनयना—तुम्हारी मर्ज़ी। मैं तो कहती थी कि नेक कोई देख जाता, देखनेमें तो कोई हर्ज है नहीं; ज्यादे क्या, दवा मत करना।

विनोद—देखो सुनयना, मैं तुमसे कहता हूँ कि किसीको भूलकर भी न दिखाना। जब बच्चेसे हाथ धोना तय कर लो, तब डाक्टर हकीमकी याद करना।

ऐसी बातके आगे सुनयनासे कैसे चला जाय ? जी तो नहीं माना, पर चुप हो गई। विनोदने कहा—दिखाना तो, कहाँ है ?

जहाँ शिशु लेटा हुआ था सुनयना उसे वहाँ ले गई। विनोदने उसकी

नाड़ी देखी—कुछ तेज़ मालूम हुई। माथेपर हाथ रखकर देखा—जैसे देही कुछ गरम हो।

कुछ ठहरकर कहा—ख़बरदार, जो किसीको दिखाया।

यह ख़बरदारीकी हिदायत स्पष्ट रूपसे उन्होंने सुनयनाको ही की हो, लक्षणोंसे ऐसा न जान पड़ा। उस समय उनकी निगाह बच्चेकी तरफ़ ही थी। मानों उसको उपलक्षमें रखकर सब किसीको इस ख़बरदारीकी ताकीद कर रहे हैं। अपने आपको भी कर रहे हैं। मानों कह रहे हैं—ख़बरदार, जो हमारे बच्चेको कुछ होने दिया।

फिर ऊपर आँख उठाकर सुनयनाकी तरफ़ देखकर कहा—कुछ हुआ भी हो। बिलकुल तो ठीक है। फ़िक्र ऐसी करने लगीं, जाने क्या हो गया। फ़िक्रको पास मत लाना। अपनी चिन्ताका असर बालकपर पड़ता है।

इतनी बातोंसे माताका जी बालककी ओरसे कुछ स्वस्थ हो गया।

कुछ रुककर विनोद हँसा, बोला—वाह, सुनयना, तुम भी ख़ूब हो। छींक आ गई—दौड़ना। खाँसी आई,—लाना डाक्टर। तुम तो तमाशा करती हो। ज़रा-ज़रा सी बातको मनमें मत लाया करो। कुछ हो जाय तो जाने क्या करो।—सो बच्चा बहुत ही अच्छा है, ज़रा कुछ भी बात नहीं है। देखो न, कैसा सो रहा है।

इतना कहकर बालकके नन्नेसे हाथको उठाकर चूम लिया, और चला गया।

खा-पीकर कचहरी पहुँचा, तो ज़रा सवेर थी। और वकील अभी नहीं आये थे।

बार-रूमकी लायब्रेरीके लायब्रेरीयन चपरासीको मेज़-कुर्सी-आलमारी वग़ैरह झाड़नसे झाड़-बुहार देनेका हुक्म देकर आप एक तरफ़ एक

आराम-कुर्सीपर पड़े आराम कर रहे थे। वकील-बाबुओंके आ धमकनेसे पहले उन्हें ये तीस-चालीस मिनट मिलते हैं, जब ये अपने प्रभुत्वका आतंक जमानेका अवसर पाकर जीवनकी श्रेष्ठता अनुभव करते हैं, और मन-ही-मन उसका रसास्वादन करते हैं। टाँग फैलाकर और आँख मीचकर कुर्सीपर पड़े-पड़े, और हुक्मके मुताबिक तत्परताके साथ झाड़नसे मेज़-कुर्सियोंके झाड़े-जानेके शब्दको आत्म-तोषके भावसे सुनते-सुनते, वह इस समय जीवनके इसी अत्यंत गौरवमय कार्यको सम्पादन कर रहे थे।

पास पहुँचकर विनोदने कहा—लायब्रेरीमें डाक्टरीकी किताबें बिल्कुल नहीं हैं ?

आवाज़ पड़ते ही लायब्रेरीयन कुर्सीसे हड़बड़ाकर उठे। यह उन्होंने क्या सुना—क्या नहीं है ? इस तरह समयसे पहले इस बार-लायब्रेरीमें आकर कोई वकील एकाएक किताबके लिए पूछेगा, तो क्या यह पूछेगा कि डाक्टरीकी किताबें कितनी हैं ? ऐसी तो संभावना कैसे भी नहीं हो सकती। इसलिए अपने ऊपर अत्यंत अविश्वास करते हुए, फिर हुक्म दिये जानेकी प्रतीक्षामें, लायब्रेरीयन उत्तर-विमूढ़ होकर खड़े रहे।

विनोद बोला—मैं कहता हूँ, डाक्टरीकी किताबें यहाँ क्या बिल्कुल नहीं रहतीं ?

डरते-डरते पूँछा—डाक्टरीकी ?—डाक्टरीकी तो, जी, यहाँ नहीं रहतीं।

'एक भी नहीं है ?'

'नहीं जी।'

'अच्छा, केटलाग लाओ।'

केटलाग देखनेके बाद कहा—'अच्छा, इन्साइक्लोपीडिया कहाँ रक्खी हैं ?'

एक छोटीसी मेज़पर तीन-चार इन पोथोंकी मोटी मोटी जिल्दोंको लेकर कमरेके एक कोनेमें बैठ गया।

समय हो गया। वकील आ गये। कमरा बूटोंकी चर्मराहटसे बोल रहा है। लोग हँस रहे हैं, बोल रहे हैं, इधर उधर जा रहे हैं। सब कुछ खिल उठा है।

लेकिन विनोद एकचित्त होकर भी अब तक इन इन्साइक्लोपीडियामेंसे जो कुछ देखना है, नहीं देख पाया। देखता है, और नोट करता है, फिर आगे पढ़ने लगता है।

धनीचंद वकीलने इन मोटे पोथोंको पहचानकर कहा—विनोद-बाबू, यह क्या कर रहे हो? इतना स्टडी करोगे?

विनोदने कहा—कुछ नहीं। यों ही देखता था।

एडवोकेट कुबेरप्रसादने कहा—विनोदभूषण, क्या कोई बड़ा पेचीदा केस है?

विनोदने जरा मुँह ऊपर उठाया, जैसे इस प्रश्न करनेके कष्ट उठाने-की कृपाके प्रति आभार प्रदर्शित किया हो, तनिक मुस्कराया, और फिर सिर झुकाकर पढ़ने लगा।

थोड़ी देरमें मवक्किलोंने आ घेरा। मुंशीजी कुर्सीके पास आकर हाज़रीमें खड़े हो गये।

लेकिन जो उन लोगोंने विनोदभूषणके खुद ध्यान बँटनेकी थोड़ी देर आशा और प्रतीक्षा की, वह पूरी नहीं हुई। मुंशीने कहा—बाबूजी!

विनोदने मुँह उठाया। सालिगराम, नत्थनलाल, परशादीमल, देवी-सहाय और मन्सासिंह, सबके सब, अपने कागज़ोंके साथ चौकस बैठे

थे। उनकी अभ्यर्थना करके विनोदने मुंशीजीको वकील धनीचंदजीको बुलानेकी आज्ञा दी। उन लोगोंसे कहा—देखिए, आज आप लोग मुझे माफ़ करेंगे। मेरे सिरमें दर्द है। लेकिन बाबू धनीचंद मुझसे भी अच्छा आपका काम करेंगे। आप फ़िक्र बिल्कुल न करें।

इन लोगोंमेंसे किसीने हल्की आपत्ति और किसीने समवेदना प्रकाशित की।

धनीचन्दजीके आते ही विनोदने कहा—देखिए, यह बाबू धनीचंदजी आ गये हैं। मैं इनको, थोड़ेमें, आपका केस समझा दूँगा। इनसे अच्छा आपको काम करनेवाला नहीं मिलेगा। बाबू धनीचंदसे अँग्रेज़ीमें कहा—'भई धनीचंद, ज़रा इनका काम सँभाल देना। मैं आज कुछ नहीं कर सकूँगा।'

धनीचंदने पूछा—क्या बात है?

विनोदने कहा—बात क्या, कुछ नहीं। सिरमें दर्द है।

इतना कहकर आगत समुदायके केसोंकी एक-एक फ़ाइल लेकर धनीचंदको हर एकके बारेमें दो-दो बातें कह दीं।

कहना न होगा कि धनीचंद इन केसोंको लेकर अप्रसन्न नहीं हैं। विनोद बेगार-प्रथाका विरोधी है; और धनीचंद ख़ाली रहनेसे इतने डरते हैं कि बेगारको भी ग़नीमत मानें।

समझ-समझाकर धनीचंदने कहा—मैं सब ठीक कर दूँगा। मवक्किल-संप्रदायकी ओर मुड़कर दोबारा कहा—मैं सब ठीक कर दूँगा। आप फ़िकर न करें, मैं सब बिल्कुल ठीक कर दूँगा।

इस दो-तीन बारके आश्वासन दिये जानेने आश्वासनका हो जाना और कठिन बना दिया। धनीचंदकी व्यग्रताने मवक्किलोंको पूर्णरूपसे

आश्वस्त नहीं होने दिया है—विनोदने यह देखा। कहा—आप लोग बेफ़िक्र होकर अब जा सकते हैं।

धनीचंदने भी देखा कि उनके भीतरकी संदेहवृत्ति जो अत्यधिक आत्म-विश्वासका रूप रखकर आश्वासन देनेके बहाने आश्वासनकी भीख माँगती हुई प्रकट हो रही है, वह गड़बड़ ही उपस्थित कर रही है, विश्वासकी जगह संदेहको ही उपजाती है। उसी समय विनोद सामने आकर, निश्चित बात कहकर, संशयको छिन्न करके उन्हें उबार लेता है। जैसे वह बच गये, नहीं तो डूबे जा रहे थे। वह विनोदके आभारी हुए। अब अपनेको संकटमें नहीं डालेंगे, तुरत चले जायँगे। लाला लोगोंके साथ उठकर वह भी चल पड़नेको तैयार हो गये। बोले—विनोद, सिरमें दर्द है तो यहाँ आकर इन पोथोंसे क्यों मग़जपच्ची करते हो?

विनोदने कहा—नहीं; यों ही वक्त काटता था। धनीचंदने चलनेके लिए मुड़ते हुए कहा—विनोद, अब तुम घर जाकर आराम करो न। बाक़ी फ़िक्र न करो, मैं सब ठीक कर दूँगा।

धनीचंद यह कह कर चल दिये। विनोद फिर सिर झुकाकर इन्सा-इक्लोपीडियामें फँस गया। क्षणभरमें फिर सिर उठाया, और आवाज़ देकर धनीचंदको फिर वापिस बुला लिया। कहा—धनीचंद, तुम्हारा भतीजा बीमार है।

धनीचंद—तो पहलेसे क्यों न कहा? यही वजह है तो फिर तुम्हारे काम न करनेकी।

विनोद—बीमारी-वीमारी कुछ ऐसी नहीं है। खाँसी है। पर खाँसी बढ़ जाय तो।....

धनीचंद—किसकी दवा की है?

विनोद—दवा ? दवाओंसे तो मैं घबड़ाता हूँ।

धनीचंद—नहीं, डाक्टरको दिखा देना अच्छा होता है। इन्साइक्लोपीडियासे डाक्टर अच्छा रहेगा।

विनोदने जैसे यह बात नहीं सुनी। कहा—धनीचंद, कभी घर आना न। अपने भतीजेको देख आना।

धनीचंदने कहा कि वह जरूर आयेंगे। आज क्या है, बृहस्पतिवार; इतवारको आयेंगे। इतवार ही अवकाशका दिन है।

विनोदने कहा—जरूर आना। जल्दी आ सको तो अच्छा। .... अब मैं तुम्हें कामसे क्यों रोकूँ ? जाओ। पर, आना, देखो। प्रद्युम्न याद करता है।

धनीचंदके चले जानेपर पंद्रह-बीस मिनट तक और विनोद इन्साइक्लोपीडियामें व्यस्त रहा। फिर, जैसे संतोष नहीं हुआ, वहाँसे शहरकी बड़ी पब्लिक लायब्रेरी गया। वहाँसे बहुतसे नोट्स इकट्ठे करके लाया। दिनके कोई दो बजे घर आपहुँचा।

सुनयनाने कहा—आज जल्दी आ गये।

बहुत खुश होकर विनोदने जवाब दिया—सवेरेसे बैठा था, कोई काम आये, काम आये। मक्खी मारते-मारते मुझसे तो ज्यादे और बैठा नहीं गया। यहाँ चला आया। यहाँ आरामसे तो तुम्हारे पास बैठूँगा। ....वह लल्लूका उल्लू कहाँ है ?

सुनयना—बड़ी मुश्किलसे अभी हाल सुलाके चुकी हूँ। बड़ा रोता था। उसका जी अच्छा नहीं है, भीतरसे कल नहीं पड़ती, रोये नहीं तो बिचारा क्या करे। यह समझो, बड़ा दम साधके सोया है।

विनोदने कहा—देखो, फिर वही। हिम्मतके साथ बोलो। ऐसी रोती चिंताकी आवाजमें नहीं बोला करते। इस जरासी बातपर ही

जैसे तुम गिरी जा रही हो। मन हमेशा सतर रक्खा करते हैं। और बच्चेको कुछ भी नहीं है। थोड़ी भी एतिहात रक्खोगी, सब ठीक हो जायगा। पानी थोड़ा-थोड़ा दिया करो। कच्चा मत देना, उबालकर देना। और हवासे मत डरना, हवा बड़ी अच्छी चीज़ है। ज्यादे हवाका डर हो, कपड़े पहना दिये। लेकिन जहाँ हवा खूब बहती रहती हो, खुलकर आ जा सकती हो, लल्लूको वहाँ रखना चाहिए। और यह नहीं कि जब चाहे दूध पिला दिया। आजकल इस मामलेमें भी होशियारी रखनी चाहिए और सबसे बड़ी बात तो मनकी है। मन हमेशा ठीक रक्खो, खुश रक्खो, समझती रहो, बच्चा अच्छा हुआ क्या, अच्छा ही है। करते-करते बच्चा आप अच्छा हो जायगा। सोचोगी, हाय, बीमार है, बीमार है, तो इस दुश्चिन्ताका परिणाम बालकके स्वास्थ्यपर अवश्य पड़ेगा। सबसे महत्त्वकी यह बात है, समझीं ?

समझी यह कि कुछ नहीं समझी। और सब एतिहात खूब ही अच्छी तरहसे रक्खेगी। पर मनको बोध सहज नहीं होता। वह तर्क, समझ और यत्नके मुताबिक नहीं चलता। जब वह रोता है तो उसे हँसाकर कैसे दिखाया जाय। उसने कहा—अच्छी बात है। जैसा कहोगे, करूँगी। और कौनसा बहुत अफ़सोस करती हूँ। पर किसीको दिखा देते, तो तसल्ली हो जाती। तुम जानो, डाक्टर सब यों ही बेबातके नहीं हो गये। कुछ तो हम-तुमसे ज्यादे जानते ही होंगे। सारी दुनिया बेवकूफ नहीं है, जो उन्हें पूँछती है, और लोग हज़ारों खर्च करके और बीसियों साल लगाकर डाक्टर बनते हैं।

विनोदने कहा—यह तो ठीक है, सुनिया, पर तुम जानती नहीं। दुनिया बेवकूफ ही है। मैं अब भी कहता हूँ, डाक्टरका नाम मनमें भी मत लेना।

सुनयना 'तुम जानो' कहकर चुप होकर बैठ गई। विनोद सोते हुए लल्लूके पास पहुँच और बैठकर दो-जेब-भरे नोट्सका निरीक्षण करने लगे।

लेकिन ठीक रातके बारह बजे विनोद झटपट हार गया।

बच्चा रो रहा था, और बड़ा बेचैन था। कंधेसे लगाये हुए, गा-गाकर डोलता-डोलता विनोद अत्यंत चेष्टा करनेपर भी उसे बहला न पाता था। खाँसी ऐसी उठती थी कि विनोदको लगता जैसे बालकका कलेजा ही खिंचकर निकला चला आ रहा हो। एक साँसमें खाँसते-खाँसते मिनटसे भी ऊपर हो जाता, और गलेका कफ़ साफ़ होकर न देता। एक बार बालकको खाँसते हुए पूरे दो मिनट हो गये; प्राणपणसे ज़ोर लगाकर खाँसता था; अँतड़ियाँ जैसे उखड़ी चली आ रही हैं, सिर-पटक-पटककर दे मार रहा है, किकिया रहा है, अपनी छोटी-सी जानका पूरा बल लगाकर खाँसता है; पर क्या अटका है कम्बख़्त कहीं कि निकलता नहीं। इस दुस्सह व्यथाको देखती हुई सुनयना पास खड़ी हो रही है, और विनोदका जी जाने कैसा हो रहा है। जैसे सूखे कपड़ेकी तरह ऐंठा जा रहा हो। पूरे तीन मिनटमें, मानों तीन युगमें आखिर एक प्रबल खाँसीमें वह गलेमें जमा हुआ पदार्थ कुछ उखड़कर आया, और बालक एक क्षीण चिचिआहट छोड़कर, अवश, श्रांत, मृतप्राय होकर कंधेपर मूर्छित होकर पड़ रहा।

उस समय रातके बारह बजे थे। विनोदने सुनियाके हाथमें बालकको थमाते हुए कहा—इसे लेना। मैं अभी डाक्टर सर्कारको ले आता हूँ।

सुनयनाने कहा—बच्चेको छोड़कर अभी कहाँ जाते हो। दिन होते ही चले जाना।

यह निरर्थक बात जैसे उसके कानोंतक भी नहीं पहुँची। वह चला गया।

उसके बाद शनिवारकी रात तक कितने डाक्टर, वैद्य और हकीम आये, गिनती नहीं। कितना रुपया खर्च हुआ, इसकी और भी गिनती नहीं। फ़ीसवाले डाक्टरों आदिको तो मिला ही था, कुछ बिनबुलाये जान-पहचानके लोग आगये थे या ऐसे लोग औरोंको बुला लाये थे, उनको भी पूरा पारिश्रमिक मिला था।

लेकिन बालककी नन्ही-सी जान और नन्हा-सा पेट था। अच्छी-हालतमें पाव डेढ़ पाव दूध पेटमें पहुँचता होगा। अब जो गोलियों और सूखी दवाओंके अलावा सोल्यूशन-मिक्श्चर और काढ़ोंका सेरोंकी तोलका वज़न उसके पेटमें रोजाना पहुँचाया जाने लगा, वह बेचारेसे कैसे झिलता?

बालककी अपार व्यथाका क्या हम ज़िक्र करें? और क्या माँ-बापके जीका हाल सुनायें?

नहीं; तब सुनायेंगे जब किताब लिखनेका अवकाश होगा। उस समय आपको भी तैयार हो जानेके लिए कहेंगे।

अभी केवल सार-अंश कहेंगे। वह यह कि बालक रातको ठंडा हो गया।

तब रात अँधेरी थी, हवा भी थी, बूँदा-बाँदी भी होने लग गई थी। सर्दी कड़ाकेकी पड़ रही थी। और उस समय विनोदको फुर्सत कम थी, क्योंकि फ़ीस चुकती कराके बिदा होनेके लिए कुछ डाक्टरादि अव-शेष थे।

९

जमना जाकर निबट-निबटा लिया है। अब हँसना चाहता है। आंतरिक वेगसे चुपचाप रोती हुई सुनयनासे कह आया है—

छिः, रोती हो ? देखो, मैं कहीं रोता हूँ ? वह चाँद मेरा बेटा नहीं था ? पर मैं तो नहीं रोता। रोया-धोया नहीं करते। इतना कहकर वह वहाँ फिर ठैर न सका। क्योंकि चिल्लाकर अगर यहीं रो पड़ेगा, तो ठीक नहीं होगा। वहाँसे भागकर आया, और बड़े जोरसे दोनों हाथोंसे ढँककर औंधे मुँह खाटपर गिर पड़ा, और फूट-फूटकर रोने लगा। लेकिन अव बड़ी युक्तिसे मनको कर्रा बनाकर बैठकमें कुर्सीपर चुप बैठा है। चाहता है—हँसूँ।

ऐसी ही अवस्थामें आये धनीचंद। आते ही उन्होंने कहा—मैं कलसे ही सोच रहा था, आज ज़रूर आऊँगा। इतवारके अलावा और कभी फुर्सत मिलती नहीं।

विनोदने कहा—आओ, बैठो।

धनीचंद—तुम आज खुश नहीं मालूम होते।

विनोदने हँस-हँसाकर कहा—वाह, क्यों ?

धनीचंदने कहा—हाँ, तुम्हारे बच्चेकी तबीयत कैसी है। शायद यही वजह है। पर, अच्छी हो गई होगी, मैं आशा करता हूँ।

विनोद—तबीयत ?—हाँ, बिल्कुल अच्छी हो गई है।

धनीचंद—हाँ, आजकल मौसम ज़रा ख़राब है। खाँसी अक्सर हो जाती है। ज़रा पर्वाह करो तो हो भी नहीं, हो तो अच्छी हो जाय।

विनोद 'हाँ-हूँ' कहकर चुपचाप सुनता रहा। धनीचंद कहते रहे—उस रोज़ मैंने सब केस बिल्कुल ठीक कर दिये। तुम तो तबसे बिल्कुल दीखे ही नहीं।

इसके बाद किस चतुराईसे कहाँ क्या सिद्धि प्राप्त की, इसका वर्णन स्वादके साथ सुनाना उन्होंने आरंभ किया। मनके ऊपरी तहपर जो उनके आत्मश्लाघाका भाव जमा रहता है वह चुक गया, तब कहा—

' वह बच्चा आपका तो बिल्कुल अच्छा हो गया। बड़ा अच्छा हुआ! अब तो कल आओगे अदालतमें। देखें, वह कहाँ है?'

विनोदने कहा—आपको ज़रा फ़ुर्सत होगी मेरे साथ बाज़ार चलनेकी? लौटकर देखिएगा। ज़रा मुझे मदत दीजिएगा।

धनीचंदजीने पूछा—क्या लाना है?

विनोदने कहा—चलिए।

चलकर एक बड़ी खिलौनोंकी दुकानपर पहुँचे। धनीचंदने कहा—यहाँसे खिलौने लोगे? यहाँ तो सब विलायती होंगे, और मँहगे मिलेंगे। तुम तो, सुनते थे, इनके बड़े बिरोधी हो।

विनोदने कहा—अँह। अब बच्चेके लिए क्या विरोध और क्या सिद्धान्त।

पहले बच्चोंकी बग्घियाँ देखीं। चालीससे शुरू करके नव्वे रुपये तककी थीं। एक सौ रुपयेकी भी थी जो अलहदा रक्खी थी। कोई ख़ास अच्छी हो, ऐसा तो नहीं जान पड़ता था। पर अलहदा विशिष्ट ढंगसे रख-कर ज्यादे दाम माँगनेसे उसी चीजके ज्यादे दाम भी उठाये जासकते हैं। लेकिन धनीचंद इन सब चालोंको खूब जानते हैं। उन्होंने ५५) की एक बग्घीका निर्णय दिया, और तर्कसे सिद्ध किया कि वही चीज़ ली जा सकनी चाहिए। पर विनोद है अल्हड़, उसने वह सौवाली ही बिना ज्यादे बात किये, ले ली। फिर लिया एक 'बेबी,' जिसको विनोदने जेबसे फ़ीता निकालकर नापकर देख लिया, ठीक २१ इंच पाँच सूतका है। फिर और छोटे-छोटे खिलौने लिये। फिर दुकानवालेसे कहा गया कि उस बच्चेको कपड़े-वपड़े पहनाकर खूब अच्छी तरह सजा दिया जाय। उसको गाड़ीमें रख दिया जाय। बाकी खिलौनोंमें कुछ उसके पास ही इधर-उधर डाल दिये जायँ, कुछ ऊपर गाड़ीकी

छतमें बाँधकर लटका दिये जायँ, जिससे कि गाड़ीमें लेटे हुए बच्चेको दीखें। इतना करनेके बाद गाड़ी उनके घर पहुँचवा दी जाय।

दूकानसे निकलकर रास्तेमें विनोदने कहा—धनीचंदजी, मुझे एक नौकर चाहिए। मैं जवान, खूबसूरत, पढ़ा लिखा नौकर चाहता हूँ। ऐसे-वैसेके हाथमें बच्चा देना ठीक नहीं।

धनीचंदने पूँछा—किसेक लिए चाहिए? पढ़ा लिखा ज़रा ज्यादे लेगा, वैसे तो बहुत सस्ते मिल जाते।

विनोद—वह गाड़ी ली है न। उसके लिए चाहिए। और इन्ट्रेंस तो होना ही चाहिए। बी० ए० मिले तो और अच्छा।

धनीचंद—पैंतीस चालीससे कममें नहीं आयगा।

विनोद—अच्छा होना चाहिए।

धनीचंदने कोई-न-कोई शीघ्र ही खोज देनेका वचन दिया।

यह वचन पानेके बाद विनोद फिर कुछ और बात न कर सका। चुपचाप घर आनेपर धनीचंदने कहा—अच्छा, अब मैं जाऊँगा।

विनोदने निरपेक्ष भावसे कहा—अच्छा....

धनीचंदने कहा—लाओ अच्छा, उस बालकको ज़रा बाज़ारकी सैर करा लाऊँ?

विनोदने कहा—वह यहाँ है नहीं; गया है।

धनीचंदने पूँछा—कहाँ गया है?

उस समय विनोदसे सम्हला नहीं गया। अंतरको जो अब तक मथ रहा था, वह वेग एकदमसे फूटकर बाहर हो गया। वह अकस्मात् विह्वल हो उठे, धनीचंदके गले लगकर रो उठे—धनीचंद, वह तो गया, गया। हम सबको छोड़ कर चला गया। न जाने कहाँ चला गया।

धनीचंदके भी आँसू एकदम कहींसे टूट आकर आँखोंसे टपाटप इस गले लगे हुए सफल वकीलके सिरपर टपककर उसे भिगोने लगे।

१०

सबेरे सैरको जा रहे हैं। बग्घीको ठेलते जाते हैं। उसमें दूकानसे ख़रीदा हुआ लल्लू खूब अच्छे कपड़े पहिने तकियों-गद्दोंपर सो रहा है। बड़ा नफ़ीस एक तौलिया उसे उढ़ाया हुआ है। और बग्घी खूब खिलौनोंसे सज रही है। उसके पीछे एफ़० ए० पास प्रवीण, चुस्त पोशाकमें कसा हुआ, बाक़ायदा आ रहा है।

रास्तेमें मिले बाबू हेमचंद्र, बैंकके मैनेजर। कहने लगे—बाबूजी यह क्या ?

विनोदने कहा—इस तरह कसरत बड़ी अच्छी होती है। लोग यह करते हैं, वह करते हैं। इस तरह मुफ़्तमें कसरत हो जाती है, यह किसीको पता नहीं।

मैनेजर बाबू सुनते हुए आगे बढ़ गये।

फिर मिले बाबू वसंतलाल, हैडक्लर्क,....आफ़िस। बोले—बाबू साहब, यह क्या तमाशा आप रोज़ करते हैं ?

विनोद बोला—यह तमाशा नहीं है, कसरतका तरीक़ा है। मैं कितना मज़बूत हो गया हूँ, देखिए। यों तो दुनिया तमाशा है।

इस तरह लोग रास्तेमें छेड़-छाड़ करते ही हैं। विनोद भी उसमें भाग ले लेता है। पहले विनोदके इस व्यवहारके संबंधमें लोगोंके मनमें उत्सुकता थी, सहानुभूति भी। लेकिन यह निकला विनोदका नित्यका नियमित कर्म। तब लोग उस बारेमें नितांत उदासीन और निरपेक्ष होने लगे और जब तब इस चलित-मस्तिष्क व्यक्तिको छेड़-छाड़कर

कुछ तमाशेका आनंद उठाने लगे। जब छेड़ लोगोंकी जरा पैनी हो जाती है, तो विनोद कहता है—'आप लोग ऐसा समझते हैं, जैसे मैं पागल हूँ। मैं पागल थोड़ा ही हूँ। मैं क्या जानता नहीं, पागल क्या होता है।' इतना सुननेपर लोगोंको, मानों जो चाहते थे, वह मिल जाता है, और वह खुश होते हुए चले जाते हैं।

यह तमाशा आप जब चाहे देख सकते हैं। पचाससे ऊपर विनोदकी आयु पहुँच चुकी है, और वह क्रम उसी नियमित रूपमें बराबर जारी है। कोई बालक उसके नहीं हुआ है। प्रवीणके वेतनमें खूब तरक्की हो गई है, उसे अब १००) मिलते है। बालकके कपड़े हर तीसरे रोज़ धोये जाते हैं। स्वच्छ वायु और स्वच्छ वस्त्रके संबंधमें बाबूजीकी कड़ी ताकीद है।

आपको यदि इस तमाशेके आदमीका तमाशा देखनेका आग्रह हो, और आप हमारे पास आनेका अनुग्रह कर सकें, तो साथ ले जाकर आपको यह सब दिखानेमें हमें कोई आपत्ति न होगी। आपकी खातिर हम यह कष्ट उठा लेंगे।



भाभी

—*—

१

एफ़० ए० पास करनेके बाद यह पता चला लेनेमें विनयचंद्रको बहुत देर न लगी कि यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। इससे दुनियामें जीवन निबाहनेमें कुछ बहुत सुभीता हो जाता हो, सो उसे देखनेमें नहीं आया। बल्कि दिक़्क़त बढ़ जाती है। क्यों कि परिस्थिति वही रहती है, आकाँक्षाएँ बेहिसाब बढ़-चढ़ उठती हैं। इनके द्वन्द्वका नाम है क्लेश। वर्तमानके सत्य और भविष्यके स्वप्नको लोग एक सूत्रमें गुँथे-हुए एकमएक न देखकर अपनी अज्ञानतासे अपने भीतर जब उन्हें टकरा बैठते हैं, तब उत्पन्न होता है विग्रह, अर्थात् दुःख। कच्ची पढ़ाईसे आशाएँ उद्दाम हो जाती हैं, विग्रह बढ़ता है। स्पष्ट है कि विग्रह जितना गहरा, द्वंद्व जितना तीव्र, परिस्थितियों और आशाओंका अंतर जितना दुर्लंघ्य, और 'जो है' उससे रुष्ट होकर 'जो चाहिए' उसे पा जानेकी आसक्ति जितनी ही अंधी होगी, दुःख उतना ही कष्टकर होगा। एफों—बीओंकी पढ़ाईमें ऐसा ही होता है।

यह तो ग़नीमत हुई कि विनयचंद्रके पास पढ़ाईके अतिरिक्त कुछ और वस्तु भी थी। ठाली बैठे वह चित्र खींचा करता था। सीखा-साखा कहीं नहीं, यों बिल्कुल बुरे चित्र न खींचता था। एक बाँसरी भी उसके पास थी। इसलिए, कहो, पढ़ाईका ज़हर उसे पूरी तरह नहीं चढ़ पाया। इसीलिए जब दो महीने तक कोई नौकरीका सिलसिला

हाथ नहीं आया, और गाँव छोड़कर अपनी अकेली माँको साथ लेकर किसी शहरमें भाग्यपरीक्षाके लिए जा पहुँचनेके लिए उसने अपनेको लाचार पाया, तब जितना औरको होता उतना दुस्सह दुःख उसे नहीं हुआ।

माँके अकेला बेटा है, और बेटेके अकेली माँ है। यही कहिए कि और कोई नहीं है; क्योंकि जो हैं, वे इन माँ-बेटोंके लिए नहीं बराबर नहीं है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला।

एफ० ए० तक विनय कैसे पढ़ा, इसका सब हाल हम नहीं जानते। हाँ, जानना जरूर चाहते हैं। क्यों कि हमें अचरज है, कैसे पढ़ लिया। आजकलकी पढ़ाईके लिए जरूरी अमीरी और अपनी निपट गरीबीको इन माँ-बेटोंने मिलकर खींच-तान करके, आज इस एफ० ए० पासके दिन तक, किस प्रकार जोड़े रक्खा, यह हम भी जान लेना चाहते हैं। पर अब नहीं चल सकता। बी० ए० के स्वप्न लेना अवश्य छोड़ देना पड़ेगा।

माँ सदासे ऐसी थी सो, हमें मालूम हुआ, नहीं है। कभी पैसा था, विनयके बाप थे, मकान दुकान, और तब कुटुम्बी पड़ौसी भी थे। पर विनयके बाप आँख मूँदकर चल दिये। तब पैसा हाट-हवेली भी जाने जल्दीसे कहाँ खिसककर चल दिये। जैसे यमदेवका पेट छोटा नहीं है, विनयके बापको चुपचाप खींचकर समा गया; उसी तरह अदालत, सर्कार और दुनियाके और लोगोंके पेट छोटे नहीं हैं, बाकी जो कुछ था, बेमालूम ढँगसे, वह उनमें समा गया। वह दो सालका विनय भी तब चल देनेको हो गया था, लेकिन माँने और चारों ओरसे आँखें मूँदकर भरजोर कसकर इसे पकड़े रख जाने नहीं दिया। ऐसे समय शेष वस्तुओं और शेष लोगोंको बड़ा सुयोग प्राप्त हो गया। धूल झोंक-

नेकी भी ज़रूरत नहीं हुई, आँखें यों-ही मुँदी थी। इस तरह दिन और धर्म दोनों दहाड़ते रह गये, और सब कुछ लुट गया। और गाँव-वालोंको मानों पता भी न लगा।

जायँ कहाँ?—यह प्रश्न अब मुँह फाड़कर सामने खड़ा हो गया। इसके हलका कोई उपाय ही नहीं दीखता। विनयके मित्रोंकी नामा-वली इसके हलमें कुछ भी काम नहीं आती। ऐसे समय माँको बीते दिनोंकी एक घटना याद आ गई। वही काम भी आई। माँने कहा—बेटा, कानपुर चलो। वहाँ तुम्हें कहीं नौकरी भी लग जायगी, और बैठनेको जगह भी मिल जायगी।

बहुत दिनकी बात हुई। विनय पूरा सालका नहीं हुआ था। ये सब लोग तीरथयात्राको चले थे। रास्तेमें एक और परिवारका साथ हो गया था। उनपर कुछ संकट आया था, तभी संयोगसे इनका परिचय हुआ। इनके कारण संकटसे उन्हें छुटकारा मिला। तब कानपुरके उस प्रेमी परिवारने इन्हें अपनेसे बिछुड़ने न दिया। दो महीनेकी लम्बी यात्राभर सब साथ रहे। उनके एक पुत्र था, जो विनयसे तीन चार साल बड़ा होगा। वे भी तीन ही थे। माता, पिता और पुत्र। बच्चों-बच्चोंमें दोस्ती हो गई, पिताओंमें सौहार्द उत्पन्न हो गया, और माताओंमें वह अटूट अभिन्न संबंध स्थापित हुआ जो स्मरणसे मिटे नहीं। वह माँ बड़ी स्नेह-शीला थीं। अलहदा होते वक्त विनयको बहुत-बहुत चूमकर इन धर्मप्राणा माँने कहा था—देखो, जब बने कानपुर आना। जरूर आना। अपना ही घर समझना और हमें भूलना मत। और ख़बर अपनी देती रहना।

यह बिछोह दोनों ओरके स्नेहाश्रुओंसे एकदम कैसा मीठा और कैसा कड़वा हो गया था, यह विनयकी माँको कलकीसी बातकी तरह याद

हो आया। भीतरसे तब ऐसा विश्वास और स्नेहका भाव उमड़ आया कि माँने कहा—बेटा, कानपुर चलो।

विनय अब उन्नीस सालका है। अठारह बरससे ऊपर हो गये इस बातको। इस बीच कितना पानी बह गया। खत पत्र एक भी नहीं आया गया। एकको पता नहीं, दूसरेकी दुनियामें क्या कुछ बीत गया। इधर विनय दुधमुँहेसे कालीजियेट हो गया है, माँ नवीनासे बढ़ते-बढ़ते वृद्धा होनेके निकट आ रही हैं, पति महायात्रा कर चुके हैं, और सम्पन्नताको मिटाकर घरमें अकिंचनता आकर डट गई है। उधर क्या कुछ न हो गया हो!

लेकिन माँने तीन-सौ-पैंसठ दिनवाले बड़े-बड़े अठारह बरसोंके पार्थक्यको शून्य बनाकर विनयसे कहा—बेटा, कानपुर चलो।

विनयने मालूम किया, माँ कानपुर जैसे बिगाने और बड़े शहरमें जानेकी बात किस बिरतेपर कह रही हैं। कहा—वे लोग न मिले तो बड़ी कठिनता होगी, माँ। माँने कहा—मिलेंगे। मिलेंगे कैसे नहीं?

इस जवाबकी हठधर्मी और मूर्खताका भी कुछ ठिकाना है। विनयने कहा—इतनी पुरानी जान-पहचानके आसरे वहाँ जा पहुँचना ठीक नहीं होगा, माँ। और जान-पहचान भी खास नहीं। और क्या पता कैसी हालतमें हों, कैसीमें नहीं। फिर तुम्हें वे पहचान ही लेंगे, इसका भी भरोसा नहीं। और माँ, मैं कहता हूँ, किस तरहसे जाकर उन्नीस साल पुरानी बातको याद दिलाकर तुम बताओगी कि तुम उनके आतिथ्यकी अधिकारिणी हो। मेरी समझमें तो यह ठीक नहीं है।

लेकिन माँके हृदयको अकस्मात् वेगसे उठ खड़े हुए विश्वासने फैल-

कर ऐसा भर लिया है कि सहजबुद्धिसे समझमें आसकनेवाली इन संकटकी संभावनाओंको टिकनेके लिए वहाँ नेक भी ठौर नहीं मिल पाता है। माँने कहा—वहीं चलो, मैं कहती भी हूँ। नहीं तो तुम जानो।

किन्तु ऐसी बात जाननेका ज़िम्मा विनयके सिर डालकर जब उसे निबटारा करनेके लिए स्वतंत्र कर दिया जाता है, तब वह अपनेको असहाय अनुभव करता है। उसने कहा—मैं तो कहता था, यह ठीक नहीं है। बाक़ी तुम कहती हो तो वहीं चलना होगा।

माँ—हाँ, मैं कहती तो हूँ।

विनय—और, दूसरी जगह भी अभी दिखाई नहीं देती।

माँ—राम चाहेगा तो दूसरी जगहकी फ़िकर करनेकी ज़रूरत नहीं आयगी।

रामका भरोसा पकड़कर यहाँ माँ जो एकदम अज्ञात अँधेरेमें कूद पड़नेका साहस रखती है, वह साहस एकदम दुस्साहस और अंध-साहस है, यह विनय मानता है; लेकिन उधरसे माँको मोड़नेका बल नहीं रखता, वरन् परिस्थिति-वश हठात् स्वयं भी उसीमें खिंचा जा रहा है। उसने कहा—अच्छी बात है, चलो।

सब तैयारी कर-कराकर आखिर एक दिन यह माँ, अपने बेटेके साथ विश्वासके उस सूक्ष्म तन्तुका सहारा थामे कानपुरके लिए चल पड़ी। यह तन्तु बहुत कम लोगोंके हाथ आता है। खोया रहता है। दिलकी तरह इतना नाज़ुक है कि छनमें लचक जाता है और टूट जाता है। साथ ही इतना अटूट है कि दिलवाले इसीपर अपना सब बोझ डालकर भव-सागर तर जाते हैं।

३

लाला धनीरामके परिवारमें इन अठारह सालोंमें धनकी और जनकी कुछ वृद्धि ही हुई है। भाग्यका बुड्ढा देवता बैठा-बैठा ऐसा ही जुए-का-सा खेल करता रहता है। यहाँसे दोको ऋण कर दिया, वहाँ दोको जनमा दिया। इसकी जेबमेंसे निकालकर एक तमाशा देखा, उसकी जेबको भरकर उधर दूसरे तमाशेका सामान कर दिया। वह बड़ा खेलका शौक़ीन है। तो क्या हम उसकी नीयतपर हमला करें? सो बात नहीं होनी चाहिए। द्यूतप्रेमी न हो तो भाग्य भाग्य क्या रहा। और गुस्सा करने-वाला और बदला लेनेवाला हो, तो देवता वह क्या रह गया, आदमी ही न हुआ। सो, खेल-खेलमें उसने विनयकी माँका घर उजाड़ा है, तो लाला धनीरामके घरको गुलज़ार बना रक्खा है। सब आराम है, बड़ी दुकान है, बल्कि दो दुकाने हैं। घोड़ा-गाड़ी भी है। और सबसे बढ़कर है कामिदां जवान पुत्र, और सुशीला पुत्र-वधू। बहूके दो बालक हैं। बड़ा पुत्र आठ बरसका होगा; छोटी कन्या तोतली बोलती है, तीसरे बरसमें है, बड़ी अच्छी लगती है। ला० धनीराम वृद्ध हो गये हैं, पर खूब सक्षम है। सुबह उठते ही खूब दूर घूमनेको जाते हैं। उनकी पत्नी धर्मशीला है, दान-वान खूब करती रहती हैं।

विनयकी माँ थोड़ा भटककर अंतमें इस घरपर आ ही गईं। सामान धर्मशालामें ही कहीं छोड़ आई थीं। विनयको साथ लेती आई थीं।

विनयको बाहर ही छोड़ा, आप अंदर गईं।

उस वक़्त ग्यारह बजे होंगे। चौके-चूल्हेका समय था। बड़ी माँजी भी और बहू भी चौकेमें ही थीं। बालक रामू मकानके आँगनके बीचमें खड़ा होकर मोटर उलटकर बड़े ग़ौरसे उसके स्प्रिंग देख रहा था। कारण, मोटर चलते-चलते शरारत करके एकदम खड़ी हो गई थी।

चाबी पूरी ख़तम हुई नहीं, फिर यह सुसरी क्यों रुक गई, इसीका कारण जानकर, दंडविधान जारी करके फिर सब काम ज्योंका त्यों ठीक कर देना होगा। इसी अपने दायित्वसे उऋण होनेकी युक्ति सोचनेमें बालक व्यस्त था। और पास ही अपने भाईकी व्यस्तताको देखनेमें व्यस्त होकर तुतली पद्मा खड़ी थी। और एक ओर नौकरनी इन बालकोंकी निश्चित व्यस्तताके कारण कुछ अवकाश पाकर मेजके आगे खड़ी होकर दर्पणमें अपनी छबि देखने और बालोंको कंघी देकर ज़रा ठीक करनेमें लग गई थी।

विनयकी माँने घरमें प्रवेश करके, और किसीको सामने न पाकर इस व्यस्त बालकको संबोधन करके पूछा—बहनजी कहाँ हैं?

बालकने इनकी ओर देखा। पूँछा—क्यों, क्या काम है?

पद्मा भी इन नवागताको देखती रह गई। मानों भाईने न पूँछ लिया होता, तो यह जवाब तलब करनेको तैयार है ही कि 'क्यों, क्या काम है?'

माँने उत्तर दिया—उनसे कहो कि कोई आपसे मिलना चाहता है।

अब तक अपनी छबि देखती हुई उस दासीको भी चेत हो गया था। इस बाँके श्याम सौन्दर्यके आगे भी वह कहारका छोकरा क्यों इधर-उधर आँख डालता है, और लोग क्यों इतने मूर्ख हैं कि वे इन चरणोंमें आकर नहीं लोट-पोट होते—दर्पणके सामने खड़ी होकर वह यही बातें सोचनेमें लगी थी। और इसी सिलसिलेमें अभी हाल उसने पता पाया था कि बाईं ओरके बाल जो माथेके आगे लाकर, चिपकाकर, बल डालकर फिर पीछेको ले जाये गये हैं, वे कम आगे आये हैं। कंघीसे उन्हें और आगे लानेका उपक्रम करती ही थी कि यह औरत आ कूदी। उसने झपटकर सामने पहुँचकर कहा—क्या कहती हो, किसे

चाहती हो ? कहनेके साथ ही एक निगाहमें उसने ऊपरसे नीचे तक देख लिया।

माँने दीन होकर कहा—मैं पूँछती थी कि बहनजी कहाँ हैं ?

"कौन भैन जी ?"

"वही जिनका यह घर है ?"

"किनका घर है ?"

"बहनजीका। उन्हींको म पूँछती हूँ।"

"अरे तो फिर वह कौन हैं ?"

लाला धनीरामजीका नाम तो वह जानती है। लेकिन उनका नाम इस मौकेपर ले या न ले, यह नहीं जानती। उसने कहा—मैं बड़ी दूरसे आई हूँ। उन्हींके लिए आई हूँ।

"क्या काम है ?"

"काम तो क्या मिलने आई हूँ।"

"क्यों मिलने आई हो ?"

"यों ही मिलने आगई हूँ।"

दासीने कहा—मिलने आई हो तो फिर कभी आना। अभी वह नहीं मिल सकतीं।

उस समय बालक रामूने ज़ोरसे चिल्लाकर कहा—अम्मा, कोई तुमसे मिलने आई हैं।

माँजीने चौकेमेंसे ही ज़ोरसे आवाज़ देकर कहा—कौन है ? उन्हें ऊपर कमरेमें ले आ।

बालकने कहा—चलो, ऊपर चलो। ऊपर बुलाती हैं।

माँके गये प्राण लौट आये। वह ऊपर कमरेमें गई, और भाँत-भाँतकी चीज़ोंसे भरे हुए उस कमरेमें पहुँचकर सोच न सकी, क्या करना

चाहिए, खड़ी-खड़ी उसे देखती रह गई। थोड़ी देरमें घरकी मालकिनका आना हुआ। अभ्यर्थनापूर्वक बैठाकर पूँछा—कहासे आना हुआ? मेरे लिए क्या काम है?

उन्होंने कहा—बहनजी, मुझे पहचाना नहीं?

लेकिन बहनजी अब भी पहचान न सकीं। विनयकी माँकी आँखोंमें आसूँ आनेको हो गये। अपनेको पहचनवाना होगा—यह कैसी विटम्बना है! बड़ा बल लगाकर बोलीं—यों ही मिलने चली आई। और कुछ काम तो नहीं था।

"चली आई तो अच्छा ही किया। यह तो तुम्हारा ही घर है। लेकिन मुझे बिल्कुल भी याद नहीं, मैंने कब और कहाँ आपको देखा है। मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मैं भूल जाती हूँ। याद मेरी ऐसी ही है; बड़ी कच्ची है। आप मुझे जरा तो मदद कीजिए, फिर सब याद आ जायगा।"

विनयकी माँने कहा—जिसको तुमने अयोध्याजीमें बहन बनाया था, उसे भूल जाओगी बहनजी?

एक ही झटकेमें स्मृतिका द्वार खुल पड़ा। और बहुतसी बातें उखड़-उखड़कर ऐसी सामने आती चली गईं जैसे द्वारके उस ओर झटपट दौड़ आनेके लिए अवसर पानेकी प्रतीक्षा ही कर रही थीं।

उस समय गले मिलकर, हँसकर, बोलकर तरह-तरहसे उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट की और आग्रहपूर्वक विनयकी माँके अब तकके दिनोंका इतिहास पूँछकर जान लिया। विनयकी माँ किसी विधिसे अपनेको रोक न सकी। स्नेहके आगे गोपनीय क्या कुछ रक्खा जा सकता है और यह भी कह दिया कि वह उन्हींके आसरेका भरोसा बाँधकर दुनियामें जी रही है और यहाँ आ गई है।

रामूकी दादीने पूछा—अच्छा, सामान कहाँ है ?

" धर्मशालामें रक्खा है।'

" क्यों, वहा क्यों रख छोड़ा ? और बिन्नू कहाँ है ? "

"वह तो बाहर ही होगा।"

" हैं, बाहर !" कहकर रामूको आवाज़ दी। रामूको कहा कि बाहर कोई खड़े हैं, उन्हें यहाँ ले आ। रामूके चले जानेपर विनयकी माँसे कहा—वह तो अब खूब बड़ा हो गया होगा।

विनयकी माँने कहा—तुम्हारे पोते-पोती हो गये और विनय बड़ा ही न हो। गिरधर यहाँ नहीं है क्या ?

" वह तो अब दुकानपर होगा। वहीं रहता है। सब काम-धाम उसीके ऊपर है, नहीं तो नौकर लोग...."

तभी आपहुँचा रामू विनयको लेकर। विनयकी युवावस्थाकी विनय-शील और शर्माती हुई मुद्राको देखकर इन महिलाके जीमें आया कि किसी तरह इस विनयावनत लजीले युवकको प्रत्यक्ष हो जाता कि जब वह मुश्किलसे एक सालका नन्हा खिलौना-सा था, तब वही किस तरह निर्लज्ज और उद्धत होकर, मुँह-हाथमें मिट्टी लपेटकर मेरी गोदमें बेधड़क चढ़ा चला आया करता था। तब यह मेरे सामने अजनबीसा बनकर खड़ा होना भूल जायगा। देखो न, ऐसा खड़ा होता है जैसे मेरा उससे कभी वास्ता नहीं रहा, जैसे मैं उसे कभी जान ही नहीं सकती। कहा—खड़ा क्या है, बैठा नहीं जाता।

विनय एक जगह आकर संकुचित होकर बैठ गया। उसकी माँने कहा—यह तेरी माँसे भी ज्यादा माँ हैं, समझा ?

इसपर साहस करके विनयने इन नयी माँको देखा। उन्होंने कहा—इतना बड़ा हो गया, फिर भी तू डरता क्यों है ?....

विनय झेंप रहा।

" सुबहसे कुछ खानेको नहीं मिला है क्या ? " इतना कहा और कहनेके साथ ही उन्हें सचमुच इन मेहमानोंके खानेका ख्याल हो आया! पूछा—" अभी तो तुमने कुछ भी क्या खाया होगा ? और मैं बातोंमें लगी रही।....बहू, देखो इन्हें खाना खिलाना।....जा भई, शर्मानेकी यह जगह नहीं है, रामू, इन्हें ले जा। "

आकस्मिक अप्रत्याशित रूपमें जब हृदयतलसे ऐसी आव-भगत सिर-पर बरसी पड़ रही है, तब किस प्रकार वाग्विमूढ़ हुए बिना रहा जाय ?

रामू विनयको लेकर चला गया। चौकेके द्वारपर वह तनिक ठिठक रहा। वहींसे रामूने कहा—भाभी, अम्माँने इन्हें भेजा है। यह खाना खायेंगे।

भाभी जिनको कहा गया, उन्होंने झटपट उठ-उठाकर पटड़ा बिछा दिया, थाली ला रक्खी, पानी भरकर रख दिया, और फिर खुद चूल्हेके पास पहुँच गईं।

इस वक्ततक विनय भी उस कमरेमें प्रवेश कर चुका था। इस बालकके बराबर ही अपनेको मानकर, उसीके सुरमें सुर मिलाकर, वह अब इन्हें भाभी ही समझ लेगा। वह पटड़ेपर बैठ गया।

आज जीवनमें यह उसका कैसा दिन है ? दिल उछल रहा है, और वह घबड़ा रहा है। इस देवताओंके घरमें उसे लाकर अवगुंठनवती अन्नपूर्णाके सामने ला बैठाला गया है,—वह क्या किसी तरह यहाँसे शून्य होकर चुपचाप विलीयमान् नहीं हो जा सकता। क्योंकि बिछु-ओंकी रुन झुन जो अभी शांत हुई है, वह उसके कानोंमें बज रही है, और उसकी दृष्टि उन चरणोंमें हठ करके जा पहुँचना चाहती है। जो यहाँ-वहाँ डोलकर, एक निराला संगीत उत्थित करके, उसकी

गूँज अवशेष छोड़कर, अब चुपचाप, उस देवीका सुकोमल भार अपने ऊपर लिए अलंकृत और धन्य होकर विराज रहे हैं। और वह अपनी दृष्टिको किसी भी तरह वहाँतक नहीं पहुँचने देना चाहता। चाहता है, यहीं मैं मर जाऊँ, और ये चरण मेरी मुँदी आँखोंको ठोकर मारकर स्पर्श कर जायँ। यह मेरे लिए बहुत है। खुली आँखोंसे मैं उन्हें नहीं देख सकूँगा, नहीं देख सकूँगा।

जीवनमें पहले रोज आज स्त्री उसके सामने पूर्ण वदान्यता, भक्त-वत्सलता और स्नेहसे अलंकृत वरदा देवीमूर्तिके रूपमें आई, और अपनेको उसने उसके समक्ष तनिक कृपा—कोरके अनुग्रहके भिक्षार्थी भक्तके रूपमें पाया।

अब हम अपनी 'भाभी' के पास आगये है। यहाँसे हमारी कहानी-का आरंभ होता है।

४

थालीमें आँख गाड़कर धीरे-धीरे उसने खाना आरम्भ किया। लेकिन बड़ी कठिनता होती है। मुँहमें जो कम-ज्यादा ग्रास जाता है, इसकी पर्वाह बिल्कुल नहीं है। पर थालीकी ओर ही देखते रहनेका जो अत्य-धिक ध्यान रखना पड़ता है, वह मुश्किल है। जब किसीके हाथ आगे बढ़कर विनयकी थालीमें रोटी डाल जाते हैं, तब मुश्किल बहुत बढ़ जाती है। वह हाथ झटपट बढ़ते, और काम करने पर उससे भी शीघ्र खिंच जाते हैं; कन्नी उँगलीके पासवाली उँगलीमें सोनेका छल्ला पड़ा है; वह हाथ बड़े चतुर हैं, बड़े गोरे-गोरे हैं। क्या वह उन्हें देखना चाहता है? नहीं, उन्हें बिल्कुल भी देखना नहीं चाहता। पर वही जब बढ़कर आँखोंके आगे आ पड़ते हैं, तो क्या किया जाय। थालीके सिवा किसी

भी और तरफ़ देखनेसे उसे सरोकार नहीं है, इच्छा नहीं है; यह उसका भगवान् जानता है। लेकिन इन आँखोंका क्या करे जो थालीकी परिधिमें घिरकर चुप सीधी तरह होकर बैठती नहीं, इधर-उधर थोड़ी-बहुत उठ ही जाती हैं।

ऐसे आत्यंतिक यत्नकी क्या भीड़ आपड़ी है? कोई है थोड़े ही, जो उसकी आँखोंकी चौकसी करता बैठा है! किसने चाहा है कि वह थालीमें ही आँखें गाड़कर बैठा रहे? कोई उसके इस यत्नकी प्रशंसा करनेवाला नहीं है। यह यत्न सरासर अनावश्यक है। घूँघटद्वारा सुरक्षित कुल-वधू रोटीके जलने न जलनेमें बड़ी व्यस्त है, इस यत्नको समझ देखनेका अवसर उसके पास नहीं है; इसमें व्यतिक्रम पड़े तो उसकी भी पर्वाह करनेकी फुर्सत उसे नहीं है।

पर, हाय, विनय यह सब कुछ नहीं जानता। वह नहीं देख सकता, नहीं देख सकता। कैसे देख सकता है?

लेकिन भाभी क्या कभी १५–१६ वर्षकी नहीं रहीं, जब विवाह हुआ न होगा, किन्तु विवाहकी प्रतीक्षाकी आशा स्वर्णरेखाकी भाँति उनके स्वप्नाकाशकी प्राची दिशामें उदित हो पड़ी होगी, और वह उसे विस्मयसे देखकर पुलकित होती होंगी। जब सब ऋतु उनके निकट वसंत होंगी, और विश्व प्रणयसे पूरित होगा। जब वस्तुमात्र उनके हृदयमें हिलोर उठा देती होगी, जो उनकी देहको कंटकित करके फिर उसमेंसे फूटकर सुखकी सिहरकी तरह ब्रह्मांडमें व्याप्त हो जाय।

जब घूँघट उधर मुड़नेकी धमकी देता है, तब थालीपर बैठे इस बाल युवककी आँखें जो तनिक तनिक ऊपर उठनेका साहस कर रही होती हैं, एकदम मुड़कर थालीमें जा जमती हैं—कभी किशोरिका रही हुई भाभीने बिना देखे भी यह सब देख लिया। तब इस अबोध अल्हड़

सलौने मुखवाले बालकके प्रति आत्मीय स्नेहके भावसे उसका हृदय भर आया। यह भाभीका प्यार था, जो माँका प्यार नहीं होता, क्यों कि उससे स्निग्ध होता है; स्त्रीका प्यार नहीं होता, क्यों कि उससे निरपेक्ष होता है। बहनका प्यार नहीं होता, जो क्रमशः पुष्ट और परिपक्व होता है; यह जैसे सोता फूट निकला, हृदयमेंसे स्वतः स्फुरित होता है। फिर भी यह सब कुछ होता है।

भाभीने, अबके अपनी वाणी स्फुट करके, घूँघटके भीतरसे ही, रोटी देते हुए कहा—'लो'

विनयने यह सुन लिया। उत्तरमें बोल नहीं सका। हाथ थालीके ऊपर फैला दिये, जिसका आशय था कि वह रोटी नहीं लेगा।

हाथोंके बीचमें किसी तरह रोटीको थालीमें छोड़ देनेकी भाभीने चेष्टा की।

हाथोंको खूब अच्छी तरह फैलाकर विनय थालीको ऐसी पूरी तरह ढँककर बैठ गया कि रोटीका पड़ना संभव ही न हो सका।

भाभी जब अपनी चेष्टामें कृतकार्य न हो सकीं तो उन्होंने हाथपर ही रोटी छोड़ दी।

विनयकी आशा क्या कभी इस स्वर्ग तक पहुँच सकी थी? विना आयासके अब वह बोल पड़ा—यह रोटी ऐसी ही पड़ी रहेगी। मैं नहीं खाऊँगा।

भाभीने उसकी इस बातका कोई उत्तर नहीं दिया, जैसे पर्वाह ही नहीं की। वह अपने काममें लगी रही।

विनयने फिर कहा—यह जबर्दस्ती करनी अच्छी नहीं होती। मैं नहीं खाऊँगा।

भाभीने उत्तरमें करछीमें साग लिया और उसकी थालीमें डाल दिया। विनय अपने हाथ फैलाकर न रोक सका।

विनय इस पुण्य-प्रसादकी रोटी छोड़ देगा तो जीवनमें पायगा क्या?

वह पूरी रोटी खतमकर चुपचाप उठकर चला गया।

५

घरमें कुछ हिस्सा इन माँ-बेटोंको रहनेके लिए दे दिया गया है। माँ नहीं चाहती कि इस प्रकार दूसरेके अनुग्रहपर रहें, लेकिन घरकी मालकिन तो अभी किरायेकी बात सुननेको तैयार नहीं हैं। कहती हैं, घर तुम्हारा ही है। और विनय कमाने लगेगा तो चाहो तो किराया भी दे देना। माँको लाचार होकर मान लेना पड़ता है। विरोधमें आग्रह करें, ऐसी परिस्थिति भी नहीं है।

रहते-रहते एक दिन लाला धनीराम और गिरधरप्रसादकी सहायता और उद्योगसे विनयकी एक दफ्तरमें नौकरी भी लग गई। वह ३५) लाकर प्रति मास माँको देने लगा। माँने अब किराया देना भी आरंभ कर दिया। अब मानों वह अपने हक़के बलपर यहाँ रहने लगीं।

पर, विनय हक़-वक कुछ नहीं जानता। वह अपनेको इन लोगोंका कृपानुजीवी ही मानता है। मौक़ा हो तो वह इनकी चाकरीमें अपना जीवन बिता दे। इनके हाथों जो स्नेह और आदर उसने पाया है, उसकी क़ीमत क्या रुपयोंमें आँकी जा सकती है। क्या उससे भी बढ़कर दुनियामें कोई चीज़ है? वह जीवनको हिसाबकी बुद्धिसे नहीं देख पाता। इसलिए दुनियाके बाज़ारमें जीवनका कोई बड़ा लाभकारी सौदा कर सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वह ३५) चुपचाप ले आता है, और न ज्यादा चिन्ता करता है न यत्न कि कहींसे और

कभी उसे ज्यादा मिलने लगे। लोगोंने कहा भी है कि उसकी जैसी योग्यतावालेको आसानीसे तनिक चेष्टा करनेपर, ६०) कोई भी दे सकेगा। पर उसे इसपर भरोसा नहीं होता। उसे समझ नहीं आता, वह किधरसे योग्य है। इसलिए ३५) जो पाता है, उसके एवज़में वह मालिकोंका पर्याप्तसे अधिक कृतज्ञ रहता है, असंतुष्ट बिल्कुल नहीं रहता। इसलिए, जिसे बेईमानी कहा जाय, वैसा भाव उसमें उपजने नहीं पाता, वैसे कामकी बात तो दूर रही। संक्षेपमें हम कहें, वह बुद्धिमान् नहीं है।

जब आदमी यहाँ मिले एक-एक खाली मिनटको कामसे और सतत चेष्टासे भरकर दुनियाकी दौड़में आगे-से-आगे जानेमें लगे हुए हैं, तब यह अपने खाली वक्तको खाली ही रखता है। जिसे समझदार आदमी काम समझ सकें, ऐसी कोई भी बात वह नौकरीसे बचे हुए खाली घंटोंमें नहीं करता। पद्मा नामकी उस तोतली लड़कीके साथ तुतलाकर बोलनेमें और उसे चिढ़ाने-मनानेमें घंटों गँवा देता है। और रामूके साथ तो बड़ी-बड़ी शरारतें करता है। जब ये और ऐसे ही साथी उसको नहीं मिलते, तब बैठकर चित्र खींचने लगता है। नहीं तो उठकर चल देता है और बाग़में बंसरी बजाता है। ठाली बैठे कभी कुछ लिख भी देता है। उसके पास इधर-उधरके कुछ अख़बार आ जाते हैं, पैसे बचाकर कभी-कभी किताबें भी कुछ ख़रीद लेता है।

यह घर वैसे लाला लोगोंका घर है। उन्हें रुपया कमानेमें व्यस्त रहना पड़ता, फिर कमाये हुए धनको रखनेकी चिंतामें व्यस्त रहना पड़ता है। उनके मिनट-मिनटकी क़ीमत है। उनका संसार मुद्रामय है। परमात्माके इस विश्वके साथ रुपया कमानेके प्रयोजनके रास्ते ही अपना संबंध इन्होंने जोड़ा है। नहीं तो यह अलग हैं, दुनिया अलग है,

रुपया आने-जानेके मार्गके कारण ही दोनोंमें संबंध है। यह दुनियामें-से अपने अर्थकी प्राप्ति करें, और दुनिया इनके निकट अर्थसम्पन्न क्षेत्र रहे—इस घरके पुरुष संसारके साथ इसी रिश्तेकी धारणापर जीवन चलाते हैं। और घरका तंत्र पुरुषोंके हाथमें रहता है। इन सब कारणोंसे घरमें अख़बार-शख़बार नहीं आया करते। किताबोंमें भूतनाथ, चंद्रकांताकी जिल्दें हो सकती हैं, और विशेष किताबें नहीं हैं।

इसलिए रामू जब विनयके पास किसी अख़बारमेंसे तरह-तरहकी तस्वीरें और जगह-जगहकी विचित्र खबरें देख सुन पाता है, तो बड़ा खुश होता है। वह जब तब विनयके कमरेमें आ पहुँचता है, और उसकी अनुपस्थितिमें भी किताबों और पत्रोंके पन्ने उलट उलटकर अपना मन बहलाया करता है। मौक़ा पाकर इस तरहकी चीज़ें वह ऊपर भी ले जाता है, और अपनी भाभीको और अम्माँजीको दिखाया करता है। भाभी और अम्माँ बड़ी खुश होती हैं। भाभी तो एकाध बार रामूके साथ स्वयं आकर विनयकी अनुपस्थितिमें उसके कमरेकी जाँच-पड़ताल कर गई हैं। अब उनमें इतना साहस आ गया है कि रामूके भी साथका आसरा न देखें, और खुद विनयकी किताबोंकी तलाशी लेना आरंभ कर दें। विनयको यह सब कुछ भी मालूम नहीं है।

एक दिन ऐसे ही अकेले आकर भाभीने कोई किताब देखनेको उठाई। उसे खोलकर पन्ने एकाध उलटे ही थे कि एक काग़ज़ उसमेंसे निकल पड़ा। उसे देखा, और देखती रह गई। वह एक चित्र था, पंसिलसे बनाया हुआ था।—कोई महिला परली तरफ़ मुँह किये हुए खड़ी हैं। एक हाथसे दर्वाजेकी चौखट पकड़ रक्खी है, एक पैर दहलीज़-पर रक्खा है, दूसरा नीचे है। जो नीचे है उस पैर परसे इसलिए ज़रा धोती उठ गई है, और उसकी पिंडलियों तकका कुछ भाग उघड़ गया

हैं। उसी तरह उठे हुए हाथकी धोती जा सरकी है, और कोहनी तक बाँह प्रगट हो गई है। उँगलीमें छल्ला है, दो काँचकी और एक सोने-की चूड़ियाँ पड़ी हैं। वह बिल्कुल असावधान हैं, दूसरी ओर किसीसे कदाचित् कुछ बात कर रही हैं।

भाभी यह तस्वीर देखती रहीं, देखती रहीं। फिर किताबको संभा-लकर वहीं-का-वहीं रख दिया, तस्वीरको जेबमें रख लिया और चली गईं।

शामको लौटा विनय। उसे तस्वीरको पूरा करनेका ध्यान था। वह अभी अधूरी थी। उसने किताबको जो खोला तो तस्वीर न थी। उसे बड़ा अचरज हुआ। समझा, भूल हो गई। और किताबें देख डालीं, तस्वीर नहीं मिली। और जहाँ रखनेकी संभावना हो सकती थी, वहाँ देख ली। जब कहीं न मिली, तो बड़ा सोच आया। आवाज़ देकर रामूको बुलाया—रामू, तुमने कोई तस्वीर देखी है? रामूने कहा—कैसी तस्वीर?

विनय—तस्वीर कैसी, मामूली तस्वीर। किसी किताबमें तुमने तस्वीर नहीं देखी?

रामू—बहुत-सी किताबोंमें बहुतसी तस्वीरें देखीं हैं। आप जाने किसे पूछते हैं।

विनय—अरे, बहुत-सी नहीं। इस किताबमें मैंने एक खींचकर रक्खी थी। अभी अधूरी थी। तैने नहीं देखी?

रामू—मैंने नहीं देखी।

विनय—नहीं देखी तो कहाँ गई? यहाँ तेरे सिवाय कौन आयेगा?

रामू—मैंने नहीं देखी, मैं कहता हूँ। मैं लेता तो बता न देता।

विनय—जाके भाभीसे पूँछो, हमारी तस्वीर कहाँ गई। अभी हमने पूरी भी नहीं की थी।

रामू—हाँ हाँ, उन्होंने ली होगी।

रामू दौड़कर भाभीके पास गया। बोला—भाभी, विनयबाबू तस्वीर-की पूँछते हैं। तुमने कोई तस्वीर देखी है? उन्होंने किताबमें रक्खी थी, अब नहीं मिलती।

भाभीने साश्चर्य कहा—कैसी तस्वीर? मैं क्या जानूँ? मैं जैसे उनकी चीज़ चुरानेको बैठी हूँ।

रामूने आकर यही बात विनयसे कह दी। विनयको सुनकर बड़ा अफसोस हुआ कि क्यों उसने रामूको भाभीके पास पूँछने भेज दिया। कहा—हाँ, ठीक तो है। वह कोई यहाँ आती हैं जो ले जायँगी। मेरी भी क्या मत हुई कि उनसे पूँछ बैठा।

रामूने कहा—यहाँ तो भाभी कई बार मेरे संग आई हैं।

विनय—यहाँ आई हैं?

रामू—हाँ, यहाँ आई हैं। मेरे संग आई हैं। हम दोनों खूब किताबें देखते रहे हैं।

यह सुनकर विनय फिर एक क्षण न ठैर सका। सीधे भाभीके पास जाकर बोला—भाभी, तुमने मेरी तस्वीर ली है? अभी वह ठीक नहीं हुई है, मुझे दे दो।

भाभी इस अनपेक्षित उपद्रवपर ठीक समयपर ठीक ढंगसे जल्दीमें घूँघट नहीं काढ़ सकीं। वह बैठी हुई थीं, विनयके आनेपर, और कुछ बोली नहीं। विनयने फिर वही बात कही—तस्वीर मेरी मुझे दे दो।

भाभीने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह उठकर चुपचाप दूसरे कमरेमें चली गईं।

विनय लज्जित होकर कुछ क्षण वहीं खड़ा रहा। समझमें न आया, क्या करूँ? लौटकर आया माँजीके पास। देखे तो वहाँ पास ही भाभी

बैठी हैं। उसने माँजीसे कहा—माँजी, देखो भाभीने हमारी एक तस्वीर रख ली है। हम कहते है, हमें दे दो, अभी वह पूरी नहीं हुई है। यह देती नहीं हैं।

माँजीको यह लड़का बड़ा अच्छा लग रहा है। उन्होंने हँसकर पूँछा—तस्वीर कैसी ?

विनय—मैंने तस्वीर खींचना शुरू की थी। किसीने किताबमेंसे निकाल ली।

माँजी—फिर तुझे कैसे मालूम इसने ले ली।

विनय—इनसे ही पूँछ लो।

माँजीने भाभीसे कहा—ली हो तो दे क्यों नहीं देती।—देखूँ, कैसी तस्वीर है ?

भाभीने घूँघटमेंसे धीरे-से कहा—यों ही कहते हैं। मैं कैसे जानूँ कैसी तस्वीर ?

माँजीने और ज्यादा हँसकर कहा—यह तो कहती है, मैं कुछ नहीं जानती। इसने नहीं ली होगी, तेरा भरम है।

विनय—नहीं ली होगी तो यह जानें। लेकिन फिर किसने ली ?

माँजी—वहीं कहीं फिर देख, मिल जायगी।

विनयने कहा—मिलती-विलती तो अब वह क्या है। और गई है तो जाने दो। लेकिन अभी अधूरी है। किसीने यह अच्छा नहीं किया, जो ले ली।

इतना कहकर वह लौट गया। लौटकर जब वह आया तो तस्वीरकी याद वह भूल गया था। एक और तरहका दुःख उठा है जो उसके हृदयके प्रदेश-प्रदेशमें समाता जा रहा है। उसे दुःख हो रहा है कि वह बिना सोचे-समझे किस हिम्मतपर तस्वीरका आरोप भाभीके सिर लगा

सका ? क्यों वह इतना बेवकूफ़ हो जाता है ? क्यों वह चुप होकर नहीं बैठ सका, वहाँ भाभीके मनको क्लेश पहुँचानेके लिए ऊधम करता पहुँच गया ? माँजीके सामने तक भाभीको लज्जित करते उसे लज्जा नहीं हुई ? हाय, वह क्या-क्या कर बैठता है !....भाभी क्या सोचेंगी, मनमें मुझे क्या कहती होंगी ?

उसका बस चले तो अभी भाभीके पैर पड़कर अपराधका प्रतीकार कर डाले। पर, बस नहीं चलता; बेवकूफ़ीके आवेशमें जिस अंतरको लाँघकर एकदमसे भाभीके साथ झगड़ने पहुँच गया, वह अंतर प्रकृत अवस्थामें वास्तवमें दुर्लङ्घ्य हो जाता है। मनमें जो दुस्सह क्षोभ और आत्म-तिरस्कारका भाव धुएँकी तरह उठ-उठकर घुँट रहा है, भाभीसे सफ़ाईका या क्षमा-याचनाका एक भी शब्द कहनेका मौक़ा ला सके; तो वह सब निकलकर बाहर हो जाय। पर ऐसा मौक़ा क्या वह ला सकेगा ? —कैसे ला सकेगा ? क्यों कि प्रकृतिस्थ अवस्थामें वह भाभीकी परछाईंका भी सामना नहीं कर पाता है, इतना डरता है।

स्नानघर जाते समय विनयके कमरेके पाससे गुज़रना होता है। भाभी गर्मियोंमें सुबह-शाम-दोपहर जब चाहे नहाने लगती हैं। बहुत नहाती हैं। शामको तो अवश्य नहाती हैं। उन्हें क्या मालूम आज विनय इस समय कमरेमें ही मौजूद है। स्नानके लिए जाते हुए जो अनायास उन्होंने खिड़कीमेंसे कमरेमें झाँका तो देखें विनय। इससे पहले कि भाभी-का मुँह झुककर नीचे हो जाय, विनयने भी उसे भरपूर देख लिया। वह मुँह हँसता-सा था, क्लेशसे खिन्न नहीं था। और वह भाभीकी मान-सिक मूर्त्ति जो उसके चिन्ताकाशमें यहाँसे वहाँ तक फैलकर उसमें गहरा मनस्ताप उपजा रही थी, म्लानमुख थी। वह किसी तरह उसे प्रसन्नवदन देखना चाह रहा था, पर उसका यह प्रयास और यह इच्छा बिल्कुल

विफल हो रही थी। अब उसने देख पाई भाभीकी सचमुचकी खिलती हुई यह मूर्ति। उसे बड़ा आह्लादकर विस्मय हुआ। वह आ खड़ा हो गया, आगे बढ़ आया, ज़ोरसे बोला—भाभी!

भाभी तनिक ठिठक गई थीं, और ठिठकके बाद अब आगे बढ़ जाना चाहती थीं। तभी उन्होंने ज़ोरसे कहा गया यह संबोधन सुना—'भाभी!' वह ठैर गई।

कमरेकी देहलीपर हाथसे चौखट पकड़े घूँघटवाली भाभीके सामने वह दोबारा इतना ही—'भाभी!' कह सका और रुककर खड़ा हो गया।

धीरे-से भाभीने कहा—माँजीसे तुमने क्यों कहा? कोई ज़रूरत थी?

भाभीकी वाणी सुनकर आत्म-अभियोगकी उसकी ग्लानि विषम नहीं रह गई। उस वाणीमें अभियोग लगाने जैसी ध्वनि नहीं थी। त्रस्त दावेदार बनकर उसे अभियुक्त बनाने वह नहीं आई हैं। विनयने कहा—मुझे इसी बातका बड़ा सोच हो रहा है।

भाभीने कहा—मैंने तस्वीर ली भी है, तो उनसे कहनेसे क्या बनता है?

विनय—तस्वीर तुमने ली है?

भाभी—क्यों नहीं ले लूँगी, जब चोरी करके तुम मेरी तस्वीर बनाते हो?

ओहो, यह बात है। ऐसी बात वह जानता, तो क्या कभी किसीसे कहता। ऐसी बातकी खुशीमें, किसीसे कहकर, भला वह उसको क्यों फिजूल साझी बनाने बैठता। ऐसी बढ़िया चोरीकी बातको तो वह अपने मनमें ही दुबकाये रखता। बोला—तो तुमने मुझे बताया क्यों नहीं?

भाभी—हल्ला मचाकर तुमने जान तो लिया।....लेकिन य' ठीक नहीं है।

क्या ठीक नहीं है, सो वह कुछ भी न समझ सका। तस्वीर ठीक नहीं है कि तस्वीरका बनाना ठीक नहीं है, या एकदमसे वह खुद ही ठीक नहीं है। वह चुप खड़ा रहा। शायद उसे बताया जायगा कि क्या बात ठीक नहीं है।

भाभीने तस्वीर निकालकर देते हुए कहा—लो। और वह जानेको तैयार हो गई।

विनयने कहा—तो ठीक क्या नहीं है?

भाभीने क्षणैक ठैरकर कहा—मेरी तस्वीरें मत बनाया करो।

विनयने पूँछा—क्यों?

भाभीने कहा—मैं ऐसी मोटी-मोटी हूँ?

विनयने कहा—अभी तस्वीर पूरी थोड़े ही हुई है। और तुम दुबली भी नहीं हो।

भाभी—नहीं, तुम तस्वीरें मेरी मत बनाया करो।

विनयने हँसकर कहा—अच्छी बात है।

और भाभी चली गईं।

६

इस तस्वीरवाली बातको आदि लेकर और-और छोटी-मोटी बातें घटने लगीं जिन्होंने इन दोनोंके बीचकी दूरीको उड़ा दिया। भाभीको कोई देवर प्राप्त नहीं था। और देवर स्त्रीके जीवनमें आवश्यक वस्तु है। एक देवर चाहिए, जिसको अवसर बनाकर, हँसी-खेल-कूद और प्रमोद-विनोदकी स्त्रीकी चपल-सुलभ आमोदात्मक वृत्तियाँ खिल-खुलकर, तृप्तिलाभ करें।

पतिके साथ स्त्री एक उत्तरदायिनी, भारवाहिनी, कर्तव्य और अधिकारोंकी झंझटोंके बीच प्रतिष्ठित, धीर, गंभीर प्रहस्थिन है। जीवनका निर्द्वन्द्व आमोदमय अंश पतिके साथ पूर्ण आत्मलाभ नहीं पाता; इसलिए भारतीय गार्हस्थ्यमें देवरका एक विशिष्ट स्थान बन गया है। वह स्थान अपना अलग है। उसके बिना स्त्रीके जीवनमें एक अभाव विद्यमान् रहता ही है।

भाभीके मानसिक विश्वमें खाली पड़े देवरके स्थानमें धीरे-धीरे विनयका प्रवेश हो चला। उसको पाकर भाभी सब झंझटें भूलकर, कभी-कभी बिल्कुल बच्चा बन जाती हैं; बच्चा, जो निर्द्वन्द्व है, जो बस खेलता-हँसता है, रूठता और मनता है। जिसका रोना भी हँसनेका एक प्रकार होता है, और जिसका रूठना मननेके लिए होता है। जो शुद्ध तत्कालमें वास करता है। जो मुक्त जीवकी पूर्ण-से-पूर्ण प्रतिकृति है। ऐसा मौक़ा जीवनमें उन्होंने पाया है; जिसके लिए न जाने क्या भीतरसे कबका अकुलाया बैठा था।

लेकिन अभी घूँघट बीचमें अटल रूपसे वर्तमान है।

जब भाभीको उसने तस्वीर न बनानेका वाचिक आश्वासन दिया था, तभी उसने एक बहुत स्थूलकायिक भाभीका बड़ा चित्र तैयार करनेका मनसूबा बाँध लिया था। अगले रोज़से ही वह उसकी 'रफ़' रूप-रेखा बनानेमें लग गया। दफ़्तर जानेसे पहले-पहले उसे खत्म कर लिया और उसी किताबमें उसी स्थानपर रखकर चला गया।

जब बड़ी शीघ्रतासे बात मानकर विनयने कह दिया कि वह तस्वीर नहीं खींचेगा, तब क्या भाभीको पूरा चैन हो गया था। या कोई कह सकता है कि वह वैसा चैन चाहती ही थीं। 'देखें वह खींचते हैं या नहीं; खींचते हैं तो कैसी खींचते हैं?'—उस समयके बाद

कुछ ऐसे भावसे वह आतुर रहने लगीं। और मौक़ा पाते ही अगले दिन विनयके कमरेमें जा पहुँची। वहाँ मिल गया उन्हें वही 'रफ़' चित्र—एक पर्याप्तसे अधिक स्थूल महिला एक दूर खड़े बच्चेको जो उन्हें चिढ़ा रहा है, कुछ हँसीमें और कुछ क्रोधमें, मारनेको दौड़ जाना चाहती है; इस आयासमें कमर कुछ-कुछ झुक गई है, घुटने बल खा गये हैं; एक हाथ ज़रा आगेको एक थोड़ा पीछेको पड़ गया है; सब मिलाकर विलक्षण-सा हुलिया हो गया है। इसमें भूल नहीं हो सकती कि यह तस्वीर भाभीकी है, यद्यपि अत्यंत असमान और अतिरंजित है।

भाभीने चाहा हँसना, पर आया गुस्सा। यह आदमी ऐसी ऐसी बात करेगा ? मैं ऐसी हूँ ? मैं नहिं....

और लाल पेंसिल लेकर ज़ोरसे गाड़कर उस तस्वीरपर इस कोनेसे उस कोनेतक एक लकीर खींच दी। फिर दूसरेसे चौथे कोनेको मिलाती हुई एक और लकीर खींची। फिर बीचों-बीचके काटके बिंदुपर चौड़ाई-नुमा एक खींची। फिर लम्बाई-नुमा। फिर इस बिन्दुको उससे मिलाया, उसको इससे। इस तरह एक घना लकीरोंका जालसा उसपर खींचकर, जहाँ तस्वीरका मुँह था वहाँ, वृत्ताकार पेंसिलको जल्दी-जल्दी बार-बार घुमाया। यह सब काम करनेके बाद उसे वहीं रख दिया और चली आई।

आकर देखा विनयने। उसने उसे काग़ज़की तहोंमें लपेटा, उसके ऊपर एक रेशमी रूमाल निकालकर लपेटा, और जहाँ अपनी क़ीमती चीज़ें रखता था, वहाँ बड़ी सुरक्षाके साथ रख दिया।

शामको भाभीने दो बात करनेका अवसर निकाल लिया। कहा—मैंने कहा था, मेरी तस्वीर मत बनाना। फिर क्यों बनाई,—और ऐसी ख़राब ?

विनयने कहा—तुमने ठीक ही किया जो उसे बिगाड़ दिया। मैंने उसे अब फाड़कर फेंक दिया है।

भाभी—मैं कोई ऐसी हूँगी जैसी तुमने बनाया? ऐसी होगी, तुम्हारी बहू। मैं तो बच्चोंको नहीं मारती। वही आकर मारा करेगी और उस तरहसे दौड़ा करेगी।

विनय—मेरी बहू? मेरी बहू ऐसी हो तो फिर क्या कहना है। पर, बहू मेरे भाग्यमें नहीं।

भाभी—ऐसा नहीं कहा करते। राम करे, तुम्हारी बहू जल्दी आवे और इससे भी मोटी आवे।

विनय—बहू आयेगी तो तुम उसे थोड़े ही देख सकोगी। तुम मुझसे घूँघट करती हो, मैं कह दूँगा, वह तुमसे घूँघट करेगी। जिसे मैं नहीं देख सकता वह मेरी बहूको नहीं देख सकता।

भाभी इस बातपर घूँघटमेंसे ही ऐसी हँसीं कि विनय धन्य हो गया। बोलीं—कोई वह तुम्हारी ही बहू होगी, मेरी कुछ भी न होगी?

विनयने कहा—कुछ भी कैसे होगी? घूँघट खोल दोगी तो चाहे सब कुछ बना लेना।

भाभी—मैं कोई आपसे घूँघट थोड़े ही करती हूँ। घरका यही शील है, करना पड़ता ही है।

विनय—तो मैं कब कहता हूँ नहीं। मैं तो यही कहता हूँ कि तुम मुझसे करोगी, और मेरी बहू तुमसे करेगी।

भाभी—मैं भी देखती हूँ, कैसे करती है।

विनय—मैं भी देखता हूँ, तुम कैसे नहीं करने देती हो।

भाभी—अच्छी बात है।

विनय—अच्छी बात है।

भाभी—यही सही।

विनय—सही क्या। तुम बहुत करोगी तो मैं हाथसे तुम्हारा घूँघट ऐसा उठा दूँगा कि तुम देखती ही रह जाओगी।

भाभी इस उद्धत व्यक्तिकी दुस्साहसिक बातपर मुस्कारती हुई लौटकर चली गई।

७

इस तरह चार साल निकल गये। विनय बाईस तेईस सालका होगा। रामू बढ़कर पूरा बाबू रामप्रसाद हो गया है, १३ सालसे कम नहीं है और दुनियामें किसीसे कम नहीं है। ऐसी बात करता है चटाचट, कि खूब। अम्माजीको और भाभीजीको बड़ी-बड़ी बातें बताता है और खूब शिक्षाएँ देता है। आठवें दर्जेमें एक पढ़ाईकी किताब है, उसमें बड़ी बड़ी बातें लिख रक्खी हैं। उनका हिन्दी अनुवाद कंठगत करके ऐसे मौक़ोंपर माँजीको सुनाता है कि माँजी दंग रह जाती हैं।

और पन्नाका रंग खूब निखर आया है। वह एकदमसे खूब सुंदर लगने लग गई है। अब बड़ी साफ़ रहती है, तुतलाकर ज़रा भी नहीं बोलती, हरदम चोटी काढ़े रहती, यहाँ वहाँ मिट्टीमें नहीं खेलती, बड़ी प्यारी लगती है।

और इस घरानेमें कोई विशेष बात नहीं हुई है। कोई और बालक नहीं जन्मा है, न कोई प्राणी कम हुआ है।

इसे हम उल्लेखनीय बात नहीं कहते कि विनय इस घरका अब अंश जैसा हो गया है। सबसे खुलकर हँसता-बोलता है, मिलता-जुलता है। कुटुम्बके दुःख-सुखका शरीक है। यह सब कुछ तो चार वर्षके सहजीवी

जीवनसे हो ही जाना था। लेकिन जो नहीं होना था, वह नहीं हुआ। अर्थात् घूँघट नहीं उठा।

वह भाभीसे कई बार कह चुका है कि भाभी अगर समझें कि उसने उनको नहीं देख लिया है, सो ग़लत है। वह सब जानता है, कैसी हैं, कैसी नहीं; कोई बहुत सुंदर तो हैं नहीं। फिर भी बहुत बड़ा घूँघट आगे रखकर अपनी दृष्टिका अवरोध करना चाहती हैं, तो उनकी मर्ज़ी।

भाभी यह सुनकर, मनमें हँसकर, घूँघट थोड़ा आगे और सरका लेती हैं।

क्या हम कहें कि इस पर्देने इन दोनोंमें एक दूसरेके प्रति निकट आनेकी इच्छाको, एक दूसरेसे परचित हो जानेके लोभको, बढ़ाने और क़ायम रखनेमें विशेष सहायता पहुँचाई है?

विनयने अपनी निधिमें दो-एक वस्तु और संग्रह कर वृद्धि कर ली है। एक पीले काग़ज़का टुकड़ा है जिसमें इस विनयको लक्ष्य करके लिखा गया है कि 'वह बड़ा शैतान है। हमें बड़ा दिक करता है। हमें यह अच्छा नहीं लगता।....' एक रूमाल चोरी करके छिपाकर रख लिया गया है। एक दफ़े होलीके दिन भाभीने एक फूल दिया था। वह ऐसा था कि उसे छुओ तो एकदमसे हाथमें बहुतसे काँटे चुभ जायँ। देखनेमें वह बड़ा लुभावना था। उसे भी खूब सँभालकर अपने कोशमें बंद करके रख लिया है।

भाभी ब्याहकी बातको लेकर उसे अब बड़ा चिढ़ाती हैं। क्यों कि उसका ब्याह अब होनेवाला है। पहले जैसे विनय बहूकी बातपर मुँहफट होकर भाभीके साथ बहुत सवाल-जवाब कर लिया करता था, अब नहीं कर पाता। अब जल्दी झेंप जाता है। क्यों कि ब्याह सिर्फ़

बातचीतकी बात नहीं रह गया है; वह सचमुच कुछ ही दिनोंमें सम्पन्न हो जानेवाला है और सच बातके बारेमें बहुत मुखर नहीं हुआ जाता।

सोचता है, बहू बनकर जो अबोधा आयेगी उसे इन भाभीको सौंपकर कह देगा—'यह तुम्हारी है। इसे अब बनाओ। इसे अपनी जैसी अपनी छोटी बहन बना लो।' उसके ज़रिये भाभीके मनके वह और निकट पहुँच जायगा, और उनकी सेवाका मौक़ा निकाल लेगा।

भाभीके दिलमें क्या कम उछाह है? इस विनयकी बहू आयेगी, उसे बड़ी आव-भगतके साथ अपने हृदयके पास बिठालेंगी, और लाड़ लड़ायेंगी। और उसे छेड़ा करेंगी भी खूब। उसे यों सजायेंगी कि विनयने भी क्या देखा होगा। सजाकर फिर विनयके कमरेमें मूँद आयेंगी।....क्या कवि बनते फिरते हैं! सब ठीक हो जायेंगे। नोन-तेलमें फँसे दीखेंगे।....फिर अपनी भाभीको भी भूल जायेंगे।....ऐसे जितने होते है, पहले बड़े निर्लिप्त बनते है, पीछे बीबीके ग़ुलाम ही हो जाते हैं। सो ही इनका हाल होगा। फिर कहाँ भाभी, कौन भाभी।....

यह सब सोचकर उन्हें कसकता-सा सुख होता है। जो ज़रा-ज़रा लगता तो है, पर मज़ेदार भी बड़ा है।

लेकिन विधि किस-किसके जीकी रक्षा करके आगे चलेगी? भाभीके जीकी जीमें रह गई। कठिन रोग-ग्रस्त होकर उन्हें पहाड़ जाना पड़ा। इसी बीच विनयका व्याह हो गया।

बहू आई बड़ी सुंदर, हँसमुख, कुछ पढ़ी लिखी भी। मंगल-गान हो रहे हैं, बधाइयाँ गाई जा रही हैं। लेकिन इनसे क्या हो, भाभी तो घर हैं नहीं। विनयका मन खोखला हो रहा है।

विनयकी बहुरियाको देखनेकी उत्सुकतामें, जिसके बारेमें उन्होंने सुन लिया है, बड़ी अच्छी है, बड़ी जल्दी सफ़रके लायक स्वास्थ्य-लाभ उन्होंने कर लिया, और घर आकर ही मानीं।

पलंगपर लेटी हैं। जैसे शुभ्र-सिकता-विस्तारमें शीर्ण-कटि सरिता सोती पड़ी हो।

विनय आकर चुपचाप पलंगकी पटियापर हाथ रखकर धरतीपर बैठ गया। माँजी पास ही बैठी थीं, पहले जाकर उनका आज चरण-स्पर्श नहीं किया, बैठते-बैठते ही उन्हें प्रणाम कर लिया।

भाभीके मुँहपर हलका कपड़ा पड़ा था।

विनयने कहा—भाभी!....कैसी हो?

भाभीने आँख खोली, और सिरका कपड़ा तनिक ठीक कर लिया।

इतनेमें मंथरगतिसे ठिठकती हुई विनयकी बहू आई।

विनयने कहा—भाभी, देखो कौन आरही है।

भाभी क्षीण मुस्कराहटसे हँसी और उठ बैठनेकी चेष्टा करने लगी।

लगभग साथ ही—

माँजी बोली—लेटी रह, लेटी रह।

विनय बोला—हें हें, उठो मत!

बहू दर्वाजेसे लगकर ही खड़ी रही। आगे नहीं आ सकी।

माँजीने कहा—आजा, बेटी।

भाभीने मंद स्वरमें कहा—आओ।

विनयने कहा—यह भाभी हैं। इनके पैर छुओ।

बहू पैर-छूना-जैसा करके पलंगके पाँयते, सकुची हुई बैठ गई।

तभी नौकरनीने आवाज दी—माँजी!

विनयने कहा—तुम कबसे बैठी होगी, माँजी, अब जा सकती हो।

माँजीने कहा—अभी आती हूँ। बाहर छज्जेपरसे झाँककर नौक-रनीसे पूँछा—क्या है ?

नौकरनीने जल्दी-जल्दी जीभकी कैंची चलाकर कितनी ही बातें एक मिनटमें कतर डालीं। माँजीकी समझमें उनका चौथाई भी नहीं आया। इसी तरह इस दासीकी और बड़बड़ न जारी रहे, इसलिए झल्लाती हुई माँजी स्वयं नीचे चली गईं।

भाभीने पाँयते बैठी हुई पर्दावेष्टित बहूको इशारा किया कि उसे ऊपर पलंगपर ही भाभीके पास आ बैठना चाहिए; और विनयकी ओर संकेत किया कि उन्हें और काम हो तो इस समय कर सकते हैं।

विनयने कहा—तुम इनसे बिल्कुल नहीं बोल सकती हो, जबतक मैं तुमसे नहीं बोल लूँगा। मैं तुम्हें देख लूँगा, जब तुम इन्हें देख पाओगी।

इतना कहकर पलंगपर पड़े हुए भाभीके बायें हाथको विनयने पकड़ लिया। वह हाथ विनयकी पकड़में ज्यों-का-त्यों टिका रहा।

भाभीने कहा—मुझे उठा दो।

विनयने कह दिया, उन्हें उठनेका ख्याल नहीं करना चाहिए। बिल्कुल आरामसे लेटे रहना चाहिए। यह भी औषधिका अंश है।

भाभीने विनयको अपनी क़सम दिलाई।

लाचार सहारा देकर उन्हें उठाकर तकियोंका सहारा लगाकर बैठा दिया।

भाभीने तनिक झुककर बहूकी बाँह पकड़कर उसे उठानेकी चेष्टा की। इसे आज्ञा समझकर बहू स्वयं उठकर पलंगपर आ बैठी।

उसे गोदीमें समेट लेनेकी चेष्टा-सी करते हुए, बहूके घूँघटमें

अपना घूँघट डालकर भाभीने उसे देखा। देखती रहीं; फिर झट बहूका चुम्बन ले लिया।

विनयने कृतार्थ भावसे यह सब देखा।

उन दोनोंके अलग हो जानेपर विनयने कहा—भाभीको लेट जाने दो।

कहनेके साथ ही, विना कुछ प्रतीक्षा किये, उन्हें उसी तरह सहारेसे लिटा दिया। मुँह उनका अपनी तरफ़ रक्खा।

विनयने कहा—भाभी!—

भाभीने कहा—इन्हें छोड़ जाओ। तुम जाओ।

विनयने उत्तरमें कहा—अच्छा। और बहुत धीरे-से दोनों हाथोंसे घूँघटको उठाकर पीछेको पलट दिया।

भाभीने कुछ विरोध किया, ऐसा नहीं जान पड़ा। घूँघटमेंसे उनका हँसता-हुआ क्षीण-शीर्ण मुख मानों आशीर्वाद देता हुआ प्रगट हो गया।

विनयने कहा—भाभी, नाराज़ तो नहीं हुईं?

भाभी केवल हँसती रहीं।

८

विनयने पत्नीसे कह दिया—देखो, मेरी माँके बाद दूसरी तुम्हारे लिये बड़ी यह भाभी हैं। इनसे तुम हँस-खुश भी सकती हो, और इनसे सीख भी बहुत-सी सीख सकती हो। इनसे जितनी अभिन्न होकर चलोगी उतना ही जीवनमें तुम्हारे मिठास आ जायगा।

लेकिन यह सब कुछ पत्नीको कहने-सुननेकी ज़रूरत थी, ऐसा नहीं जान पड़ा। पत्नीने तो आते ही देख लिया कि भाभी जैसी प्रेमसे

अपना लेनेवाली हैं, वैसी और कोई नहीं है। और उनके अपनानेमें बड़प्पनका भाव बिल्कुल नहीं है। उनसे मिलकर न रहा जायगा, तो फिर किससे रहा जायगा। वह आते ही अनायास बिल्कुल भाभीकी बन रही।

यह नयी बहू भाभीके कारण खुद खुश रहती है और भाभीके भी खुश रहनेका कारण बन गई है। बहुत कुछ इस वजहसे, कुछ कहना चाहिए विनयकी संलग्न परिचर्याके कारण, कुछ और वजहोंसे जिनमें शायद डाक्टरकी दवाई भी एक हो सकती है, भाभी चंगी हो गई।

उस समयके बाद इन दोनों बहुओंकी चहचहाहट, ऊधम-दंगा और हँसीका क़हक़हा समय-बे-समय सुनाई देने लगा। भाभी सारे तन-बदनसे ऐसी उन्मुक्त हँसी हँसतीं कि उसकी लहर, लहराती-लहराती, सारे मकानमें गूँज जाती। जब यह विनयके कानोंमें पहुँचती, तो वह धन्य हो जाता, इस खुशीकी फुहारमें मानों नहा जाता। और बहू भी किसी तरहसे कमज़ोरकी हँसी न हँसती। घर सदा हँसता रहता।

ये दोनों खेलते ही थे, विनय भी वक्त निकालकर इनमें शामिल हो जाता था। माँ दोनों इस बातसे बड़ी खुश थीं।

अब विनयको बड़ा अचरज था कि यह भाभी उससे कभी कैसे परदा कर पाती थीं। विनय गिना-गिनाकर और वक्त पतेकी बात बताकर भाभीको सुनाता था कि कैसे वह भाभीको लुके-छिपे देख लिया करता था। एक दफ़े बाल सुखाने धूपमें बैठी थीं, तुम्हें पता भी न था कि मैं छतपर धूपमें बैठा अख़बार पढ़ रहा हूँ। बाल तुम्हारे पीठपर फैले थे, कुछ मुँहके आगे आ रहे थे। तब मैंने खूब अच्छी तरह तुम्हें देख लिया था। लेकिन जीभरकर एक ही बार देखा, फिर ख्याल आ गया, फिर नहीं देखा।

भाभीजी यह सुनकर कहतीं—तुम बड़े वैसे थे। मुझे क्या पता था, तुममें यह गुन भी थे। फिर वैसे ही देख लिया था, तो पर्दा क्यों खुलवाया ? मैं जानती तो कभी न खोलती।

विनय कहता—अब फिर कर लो। अब क्या बिगड़ गया है।

भाभी खिलखिलाकर हँस पड़तीं, कहतीं कर ही लूँगी। नहीं करूँगी तो गुज़ारा कैसे होगा।

ऐसे समय कभी विनयकी पत्नी होती थी तो वह, नहीं तो विनय स्वयं, भाभीकी धोती सिरके पल्लेको मुँहके आगे तक खींच देता। कहता—लो, अब तो हो गया।

भाभी कहतीं—हो गया तो बस। अब मुझसे मत बोलना।

इतना कहकर बहू बनकर मुँह फेरकर बैठ जातीं।

जिसने पर्दा किया था उसीको लाचार फिर घूँघटको हाथसे उठाकर ऊपरको सरका देना पड़ता। भाभी फिर सीधी होकर बैठ जातीं, कहतीं—बस, चैन नहीं पड़ा। अब अपने आप क्यों उठाया ?

इस तरहके अभिनय आये दिन होते रहते, और घरको स्वर्ग बनाये रखते। अलग रहते किसीको चैन न था, मिल बैठते, ऊधम-मस्ती शुरू हो जाती, तब इन लोगोंके जीमें जी आता।

यह नहीं कि खटपट नहीं हो जाती थी। बासन न खटकें तो बासन कैसे। यह भी तो होता रहना चाहिए। पर खटपटसे मिलनका मिठास और गहरा हो जाता था। एक रूठे नहीं तो दूसरेको मनानेका मौक़ा कैसे हाथ आये। और दो रोज़ अलग-अलग होकर दोनोंके मुँह न फूले रहें, तो तीसरे रोज़ साथ बैठकर दोनों आँसू कैसे बरसा पायें। इसी तरहके आवर्तन-प्रत्यावर्तनका नाम जीवन है। नहीं तो जहाँ गुदगुदी

रेतीली समतल धरती ही है, लोग उसे रेगिस्तानको ही क्यों न पसंद करें; क्यों घास-पातसे मैली कुचीली धरतीमें, और हल चलाकर उसे ऊबड़-खाबड़ करके, अन्नका बीज छोड़ें ?

इन लोगोंका क्या हरियाला जीवन है । कैसा चुहलसे भरा है । कहीं मैला बादल नहीं है । चारों ओर भविष्यमें जहाँ तक निगाह जाती है, हरियाली-ही-हरियाली है ।

९

इच्छा होती है कि यहीं हमारी कहानी सम्पूर्ण हो जाती । कहानीका रस, कहानीका प्राण जहाँ खिल उठा है, वहीं हमारी कहानीका कलेवर भी नष्ट हो जाता, आयु व्यतीत हो जाती। कैसा दुःख है कि दुनियामें पुण्य क्षय हो जानेपर रस चुक जानेपर भी लोगोंको अपना जीवन ढोना पड़ता है। विधाताके ऐसे विधानके बेचारा कहानी-लेखक भी अधीन है ।

हमारी कहानी मौतकी कहानी नहीं है । क्या मौतके बिना कहानी हो सकती है ? मौतको विधाताने बहुत मँहगा नहीं बनाया है। कहानी-लेखक भी इसको मँहगी नहीं बनाता ।

लेकिन हालत होती है, जब मौत भी मँहगी होती है । जब मौतसे भारी चीज़ दिलमें बैठ जाती है; और उसको दिलमें लिये-लिये फिरकर आदमीको जीता रहना पड़ता है ।

मैं कह चुका हूँ, उस घरमें कभी-कभी रगड़ हो जाया करती थी। लोग जब बहुत निकट होकर मिलते हैं, तब उनकी स्वभाव-विषमताएँ एक-दूसरेको स्पर्श करती हैं । उस समय तो उन्हें एक प्रकारका स्पर्श-सुख होता है, जैसे फोड़ेको हलके-हलके छूनेमें। जब और पास आते हैं

तब स्वभावकी उभरी हुई विषमताएँ टकराती हैं । उस समय दाँते-दार पहियोंकी भाँति एक-दूसरेको निभाकर, रल-मिलकर, एक दूसरेपर निर्भर रहकर चलने लायक अंतर-सम्मिलन (adjustment) उनमें किसी तरह नहीं हो जाय, तो बड़ी गड़बड़ होती है। वे मानों एक दूसरेको काटने दौड़ती हैं, आपसमें टकराकर एक-दूसरेको नष्ट करनेकी ओर उनकी प्रवृत्ति होती है; टक्करमेंसे चिनगारियाँ निकलती हैं । ऐसे समय यदि मनुष्यकी रीढ़ (axle) अत्यन्त दृढ़ हो, तो वह इन टक्करोंसे डरकर पीछे नहीं हट जायगा; अर्थात् शत्रुता पैदा करके या और कारणसे अपनी निकटतामें विच्छेद नहीं डालेगा; बल्कि बहुत धीरजसे काम लेगा । अंतमें ऐसा समय आयगा कि या तो वे विषमताएँ मिल (adjust) बैठेंगी, या रगड़ते-रगड़ते बिल्कुल नष्ट हो जायेंगी और भीतरसे सहज-समान मनुष्यता प्रगट हो जायगी। लेकिन ऐसा होता नहीं है । जब ऐसा भीषण समय उपस्थित होता है, तब संघर्षसे घबड़ाकर मैत्री और प्रेमका संबंध ही लोग एक दूसरेसे तोड़ लेते हैं, डटे नहीं रहते।

विनय एक दिन आता है तो देखता है, मकान जैसे सन्नाटा खींच रहा है। लोगोंके चेहरे भारी-भारी हो रहे हैं। बच्चे खेल नहीं रहे हैं। सब सुन्न हालतमें हो रहा है।

उसे मालूम हुआ कि आध घंटा हुआ घोर वाग्युद्ध मचकर चुका है। उसे और मालूम हुआ कि उसके आरंभसे ही भाभी मूर्च्छामें पड़ी हैं।

ऐसी क्या बात हो गई? क्या हुआ?

इसका कारण उसने जाना तो काठमारा रह गया। नीचेसे धरती खिसक गई।

विनयकी पत्नीने अपने इस विश्वासको दो-एकसे प्रकट किया है कि उसके पतिकी नजर ठीक नहीं है और भाभी भी....

इसी बातको लेकर माँजीने घोर आपत्ति की है और विपुल कोलाहल मचाया है।

विनयकी माँने भी उसके उत्तरमें कराल तडित्-गर्जन किया है।

इस तर्जन-गर्जनमें अनुसंधान करने और सोच-समझकर बात करनेकी आवश्यकताका किसी पक्षको ध्यान नहीं रह सका है।

मूर्च्छाकी बात जानकर उसने भाभीके पास दौड़ जानेका इरादा किया था। लेकिन अब अपने इस काले मुँहको लेकर क्या वह बाहर निकल सकेगा? वह अपनेको कोठरीमें अच्छी तरहसे बंदकर बैठ रहा।

रोया तो, पर रोनेसे क्या हाथ आता है। और पत्नीपर रोष करनेसे भी क्या हाथ आता है।

उसने अपनेको पत्नीकी हालतमें डालकर सोचा कि क्या वह अपने सम्पूर्ण जीवनमें पत्नीके ध्यानको ऐसा रमाकर बैठ सका है कि और सब कुछ, और सब कोई, वहाँसे मिट जाय। वैवाहिक प्रेमका ऐसा ही विदेही आदर्श उसने अपनी कल्पनामें माना है। उस आदर्शके नीचे बैठकर, आजकी घटनापर वह खूब रोया; रोष तनिक भी किसीपर नहीं कर सका। अपने हीन-जीवनको भाभीकी दृष्टिसे कहीं दूर ले जाकर ओझल बना लेगा। उसकी हीनताकी कालिखकी छाया भाभीके पास नहीं पहुँचने पायेगी।

वह अब भाभीकी पदध्वनिसे डरने लगा। कहीं उनके आनेकी संभावना होती, तो रास्तेसे छिटककर दूर भाग जाता। दुर्भाग्यसे कभी सामने पड़ ही जाता, तो गड़कर नीचा सिर करके ऐसा खड़ा हो जाता कि यहीं गड़ा ठूँठ हो। एकाध बार चारों ओरसे कमरेको बंद करके

खिड़कीमेंसे भाभी आती हों, तो देखनेके लिए इंतज़ार किया है। पर उनके उधरसे आनेकी आहट मिली कि साहस चुक जाता है, और वह मुँह छिपाकर नीचेको बैठ जाता है।

उसी रोज़से वह दूसरा मकान देख लेनेके यत्नमें है। पर शहरमें मकान यों ही नहीं रक्खे होते।

अब कभी-कभी भाभीकी हँसी उस तक पहुँचती है, तो वह निमग्न होकर कानोंकी राह अमृतकी तरह उसे पीता रहता है। अब कब उसे यह वस्तु मिलेगी ? और नहीं मिलेगी, जो साथ ले चलेगा, वही ले चलेगा—मानों इस भावसे वह भाभीकी भूली भटकी वाणी और भाभीकी हँसीको अपने भीतर संग्रह करता है।

उसने एक बार भाभीको अब भी बड़ी हिम्मत करके देख लिया है। ज़रा-ज़रा देखा है। वह रूप हृत्पटपर, कैमरेके प्लेटकी भाँति अंकित हो गया। वह वैसा ही सदाकी भाँति निर्विकार मुख है। मानों कोई हरी सी वस्तु उठी थी, वह घनी हुई तो किसीने उसे काला बना दिया; खैर,—लेकिन अब वह उनके आकाशमेंसे धुल-धुलाकर बिल्कुल साफ़ हो गई है। कोई निशान नहीं छोड़ गई।

क्या विनयकी यह धारणा मधुर है ? सत्य है ?

क्या सच वह वस्तु भाभीके अंतरमें कोई अभाव, कोई दाग़, दर्दकी कोई ज़रा सी जगह बनाकर नहीं छोड़ सकी, जहाँ कभी-कभी स्मृति भटकती-भटकती आ टकरे, और वहाँ थोड़ी विचरने लग जाय ?

१०

विनयने दूसरा मकान किराये ले लिया। यहाँ चित्र बनानेमें उसका अधिक समय जाने लगा। सौभाग्य कि एक धनी पड़ोसीका ध्यान

उन चित्रोंकी ओर गया। उसने उन्हें बहुत सराहा। वह पसन्दका आदमी था। चित्रोंका आशातीत मूल्य विनयको मिलने लगा। दुनिया-की आखोंमें अब वह और हो गया। प्रसिद्ध हो गया है, पैसेवाला गिना जाता है। पैसेवाला है, इसमें संदेह नहीं; लेकिन पैसे-वाला-सा दिखता नहीं है। सब कुछ उसने जमा कर छोड़ा है, समझता है वह मेरा नहीं है। फिर किसका है? कहता है, एकका है। हम उसके मन-की बात बता दें, तो वह उस सबको भाभीका मानता है। चित्रोंका सब धन भाभीका है। भाभीके बिना वह चित्रकार हो सकता था, यह अक-ल्पनीय है।

एक दिन उसने अख़बारमें देखा, एक रामप्रसाद बी० ए० में पास हुआ है। उसने शहरमें बहुत बड़ी पार्टी की। रामप्रसाद भी उसमें आया। पार्टीके बाद रामूने कहा—अम्माजीको तो आपकी ख़बर होगी?

विनयने कहा—क्या?

रामूने कहा—उनका तो पिछले महीने ही स्वर्गवास हो गया। भाभी भी तबसे ऐसी रहती हैं।

विनयने कहा—अच्छा....?

रामूने कहा—मुझे नहीं माळूम था कि आप ही....चित्रकार हैं। नहीं तो मैं बुला ले जाता।....

विनयने कहा—हाँ....

रामूने कहा—चलिएगा?

विनयने पूँछा—कहाँ?

रामू—भाभीके पास नहीं चलिएगा?

विनय—हाँ....

रामू—अभी तो आपको फुर्सत नहीं होगी। आप कहें, तो मैं परसों आऊँ ?

विनय—पद्मा कैसी है ?

रामू—उसकी शादी हो गई है।

विनय—परसों तुम आओगे ? तो कल भी आना, कल फिर पार्टी है, जरूर आना। फिर परसों चलेंगे।

रामू—जरूर चलिएगा।

विनय—कल जरूर आना।

अगले रोज फिर पार्टी हुई। रामू ध्यान रखकर शरीक हुआ।

लेकिन परसों जब वह आया, तो विनयबाबू थे नहीं। जाने कहाँ चले गये थे। चपरासीने एक लिफ़ाफ़ा उसे दिया, जिसमें उसके नामका ५०,०००) रुपयेका ड्राफ्ट था।

वह निराश होकर लौट आया। और भाभीके सामने विनयकी जगह उसका दिया ५०,०००) का कागज़का टुकड़ा लाकर रख सका। भाभीने उसे लिया और तकियेके नीचे रख लिया।



हिन्दीका उत्कृष्ट उपन्यास

परख

वातायनके लेखक बाबू जैनेन्द्रकुमारजीका ही लिखा हुआ यह मौलिक उपन्यास है। यह अतिशय हृदयग्रावक और करुणरसपूर्ण है। इसमें एक ग्रामीण विधवाका बिल्कुल अनूठा, अपूर्व और पवित्र चरित्र अंकित किया गया है। आदर्श हिन्दू स्त्रीके स्वार्थत्यागका यह दुर्लभ चरित्र हृदयपर चिरस्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। एक नामी चित्रकारके कई सुन्दर चित्रोंसे पुस्तककी शोभा और भी बढ़ गई है। हिन्दीके प्रधान प्रधान पत्रोंने इसकी जी खोलकर प्रशंसा की है। कुछ नमूने लीजिए—

हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ उपन्यासलेखक श्रीयुत प्रेमचन्द्रजी अपने 'हँस'में लिखते हैं—

"जैनेन्द्रकुमारजीने जो कुछ लिखा है, बहुत ही सुन्दर लिखा है। भाषा, चरित्र, चुटकियाँ सभी बातें अपने ढंगकी निराली हैं। उनमें साधारणसी बातको भी कुछ इस ढंगसे कहनेकी शक्ति है, जो तुरंत आकर्षित करती है। उनकी भाषामें एक खास लोच, एक खास अंदाज़ है। इसके साथ ही वह उन रियलिस्टोंमें नहीं हैं, जिन्हें नग्न चित्रोंमें ही आनन्द आता है। 'सुन्दर' को भी वे कभी हाथसे नहीं जाने देते। 'परख' है तो छोटी किताब; पर हिन्दीमें एक चीज़ है। भाषा इतनी सजीव, शैली इतनी आकर्षक, चरित्र इतना मार्मिक कि चित्त मुग्ध हो जाता है।........हमें विश्वास है; इस रचनाका आदर होगा। हम जैनेन्द्रजीको इसपर बधाई देते हैं और कथाप्रेमियोंसे आग्रह करते हैं कि वह इसे अवश्य पढ़े।"

सुप्रसिद्ध समालोचक पं० अवध उपाध्याय अपनी छहपृष्ठव्यापी विस्तृत समालोचनामें जो लखनऊकी 'सुधा' में प्रकाशित हुई है, लिखते हैं—

"उपन्यास क्या है, भारतीय जीवनका एक जीता-जागता चित्र है। विषय सर्व सुन्दर तथा उपादेय है। प्लाट-निर्माण सरल तथा मनोहर है। लेखकके सरस अनुभवोंका व्यक्तीकरण प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है। भाषा और भावोंका मेल अपूर्व है। लेखककी अनुभूति बड़ी गहरी तथा उनकी पैठ मनुष्य-स्वभावके